विषयसूची

विषय

निवेदन

साहित्य में निबन्ध का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रत्येक साहित्य में निबन्धों की गिनती उसकी बहुमूल्य सम्पत्ति में होती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। निबन्धों में प्रायः किसी एक विषय पर अच्छे विद्वान् के गूढ़ विचार भरे रहते हैं। निबन्ध लिखना सहज और हर किसी का काम नहीं है और न उसके पढ़ने और समझनेवालों की संख्या ही अधिक होती है। पाश्चात्य भाषाओं के साहित्य में इसी लिए उन का आदर भी बहुत अधिक होता है। विशेषतः नवयुवकों के शिक्षा-क्रम में निबन्धों को एक विशिष्ट स्थान दिया जाता है। निबन्धों के अध्ययन से नवयुवक विद्यार्थियों को अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। उन्हें अनेक विषयों पर अनेक विद्वानों के उच्च और गूढ़ विचार एकत्र मिलते हैं। साथ ही उन्हें भिन्न भिन्न लेख-शैलियों तथा विचार-प्रदर्शन की प्रणालियों का सहज ही ज्ञान प्राप्त होता है। और विद्यार्थियों के लिए ये लाभ कुछ कम नहीं हैं।

हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य अभी अपनी शैशव अथवा अधिक से अधिक बाल्य अवस्था में है। उसमें सभी विषयों के ओर मौलिक ग्रंथों का बहुत कुछ अभाव है। जहाँ साहित्य के साधारण अङ्गों की भी पूर्त्ति न हो, वहाँ विशिष्ट अङ्गों की ओर से जिज्ञासुओं का निराश होना बहुत कुछ स्वाभाविक ही है। यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में अभी तक निबन्ध-रचना का भली भाँति आरम्भ भी नहीं हो सका है, तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। हिंदी में अभी तक वास्तविक अर्थ में निबन्ध कहलाने के योग्य रचनाएँ बहुत ही थोड़ी हुई हैं। परन्तु हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न

की उन्नति के साथ साथ इस ओर भी लोगों का ध्यान जाने लगा है। इससे आशा होती है कि कुछ दिनों में उसके इस अङ्ग की भी यथेष्ट पूर्ति हो जायगी।

आजकल हिन्दी भाषा का समस्त भारत मे जिस द्रुत गति से प्रचार हो रहा है और हिन्दी साहित्य की जिस शीघ्रता से उन्नति हो रही है, वह वास्तव में बहुत ही आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व है। इस शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक जितनी अधिक उन्नति हिन्दी ने की है, इतने ही समय में उतनी उन्नति कम से कम हमारे देश में तो किसी देशी भाषा की नहीं हुई है; और विदेशों में भी कदाचित् ही किसी भाषा की हुई हो। इधर कुछ ही वर्षों में देखते देखते उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों मे उसे स्थान मिल गया है और बहुत अच्छा स्थान मिला है। इसका मुख्य कारण देश में फैलनेवाली जाग्रति ही है। समस्त देश को एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता थी और हिन्दी पहले से ही राष्ट्र भाषा के आसन पर बहुत कुछ आसीन थी, इसी लिए लोग स्वभावतः उसे बहुत शीघ्रतापूर्वक अपनाते चले जा रहे हैं। यहाँ तक कि इधर थोड़े दिनों से दक्षिण भारत में भी उसका बहुत शीघ्रता से प्रचार होने लग गया है।

उच्च पाठ्य-क्रम में हिन्दी को स्थान तो प्रायः सभी जगह मिल गया है, परन्तु उस में पाठ्य-क्रम में रखी जाने योग्य उत्तम और उपयुक्त पुस्तकों का अभाव लोगों को बहुत कुछ खटक रहा है। जो लोग वास्तविक परिस्थिति से परिचित हैं, उनमें से कुछ को तो यहाँ तक आशंका होने लगी है कि हिन्दी ने जितने सहज में यह उच्च स्थान प्राप्त किया है, कहीं उतने सहज में ही वह उसे फिर

गँवा न बैठे। परन्तु हमारी समझ में इस प्रकार की आशंका करने का कोई विशेष कारण नहीं है। ज्यों ज्यों पाठ्य-क्रम के लिए उत्तम और उपयुक्त पुस्तकों की आवश्यकता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों वैसी पुस्तकें प्रस्तुत भी हो जाती हैं। प्राय सभी विषयों में पहला प्रयत्न उतना अधिक सफल नहीं हुआ करता। परन्तु जब तक निरन्तर प्रयत्न होता रहे, तब तक निराश होने की कोई बात नहीं है। दिन पर दिन अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रस्तुत हो ही रही हैं और बराबर होती रहेंगी। यह प्रयत्न जब तक पूर्ण सफल न हो लेगा, तब तक कभी बन्द नहीं होगा। अत इस ओर से हमे निराश नहीं होना चाहिए।

हिन्दी में एक तो अच्छे निबन्धों का यों ही अभाव है, तिस पर निबन्ध-संग्रहों का और भी अभाव है। यह ठीक है कि अब तक कई निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और उनमें से कुछ अच्छे भी हैं, परन्तु अभी बहुत अधिक निबन्धों के लिखे जाने और निबन्ध संग्रहों के प्रकाशित होने की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता का अनुभव करके यह "निबन्ध-रत्नावली" नामक निबन्ध संग्रह प्रकाशित किया गया है। अनेक कारणों से यह संग्रह भी उतना अच्छा नहीं हो सका है जितना अच्छा हम इसे बनाना चाहते थे। हमारी इच्छा थी कि इसमें केवल मौलिक निबन्ध हों, और भाषाओं से अनुवाद किए हुए न हों। परन्तु कुछ तो हिन्दी में निबन्धों का अभाव था और कुछ दूसरी भाषाओं से अनुवाद किए हुए निबन्धों के सौन्दर्य ने हमें अपनी ओर आकृष्ट किया, और इसी लिए हमारी पहली इच्छा पूरी न हो सकी। तो भी हमने अपनी ओर से उत्तम, शिक्षाप्रद और उपयोगी निबन्धों

का चुनाव करने में यथासाध्य कमी नहीं की है। एक बात और है। यद्यपि "निबन्ध" शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है और आजकल मासिक-पत्रों आदि में प्रकाशित होनेवाले लेखों तथा निबन्धों के मध्य कोई विभाजक सीमा निर्धारित नहीं है, परन्तु फिर भी इसमें कुछ ऐसी रचनाएँ आ गई हैं जिन्हें ठीक अर्थ में निबन्ध नहीं कह सकते। तो भी जहाँ तक हो सका है, हमने उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए यह संग्रह प्रकाशित किया है; और हमारा विश्वास है कि प्रायः सभी प्रान्तों के शिक्षा विभागों में इस संग्रह का यथेष्ट आदर और प्रचार होगा। हमारी दृष्टि से इस संस्करण में जो दो एक त्रुटियाँ रह गई हैं, वह अगले संस्करण में दूर कर दी जायँगी।

अन्त में हम उन सुयोग्य लेखकों तथा विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं जिनकी आदरणीय और सुपाठ्य रचनाओं का हमने इस रत्नावली में संग्रह किया है। हम यह जानते और मानते हैं कि किसी की रचना का बिना उसकी आज्ञा प्राप्त किए उपयोग करना कम से कम नैतिक दृष्टि से कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकता। परन्तु कई कारणों तथा विचारों से हमने बिना आज्ञा लिए ही यह धृष्टता की है; और इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

काशी,
अनन्त चतुर्दशी, १९८५

विनीत
रामचन्द्र वर्म्मा।

निबन्ध-रत्नावली

(१)

ललित कलाएँ और काव्य

सृष्टि की उपयोगिता और सुन्दरता—प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्त्तमान न हो। यह सम्भव है कि बहुत सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों; पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है जो उनका सौंदर्य्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं।

एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है; एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुन्दरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि और वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोंपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोंपड़ी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता भी आ जाती है।

कला और उसके विभाग—जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्ति कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति

और विकास की द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो, वह सुन्दर भी हो। परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथा-शक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर जिनके सुन्दर होने में सन्देह नहीं।

खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने-बैठने, आने-जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किये उस की मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता, वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुन्दरता का

एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है; एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुन्दरता पाते हैं। एक झोंपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि और वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोंपड़ी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता भी आ जाती है।

कला और उसके विभाग—जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्ति कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति

आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार—ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं; और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा*। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी।

अभाव रहता है; और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सब से नीचा स्थान देते हैं; क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्त्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त्त ही होता है; परंतु मूर्त्तिकार किसी प्रस्तर खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातुखंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्त्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला है। उसका आधार मूर्त्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्त्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही की होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर चढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप-रङ्ग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद-

आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक सा सस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार—ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करने-वाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा॥। पहली कला में किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण

॥ काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उप-लब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला को सामने देख और उसके मुख से उसका वक्तव्य सुन, दोनों के योग से हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में लिखा हुआ उसका [illegible] नहीं होता।

अभाव रहता है; और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सब से नीचा स्थान देते हैं; क्योंकि मूर्त्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्त्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त्त ही होता है; परंतु मूर्त्तिकार किसी प्रस्तर खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातुखंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्त्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला है। उसका आधार मूर्त्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त्त अर्थात् साकार पदार्थ मे लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्त्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप-रङ्ग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद-

परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह और अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। इसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता; पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौन्दर्य-रूप आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है; पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाओं के आधार तत्त्व—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों

द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। (३) ये आधार उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है; अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित-कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि मे सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध मे नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) मन का मूर्त आधार; (२) वह साधन जिसके द्वारा वह आधार गोचर होता है; और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला—वास्तु-कला में मूर्त आधार ...

परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह और अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौन्दर्य-रूप आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है; पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाओं के आधार तत्त्व—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों

मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार काट-छाँट कर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अंतर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परंतु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्ति कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुंदरता को प्रकाशित करना है।

चित्र-कला—चित्र-कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्र-पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रश या कलम की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि अनुभव कराता है। परन्तु मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, —— [illegible]

सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमत से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छा डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थ की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्त्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रति-छाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिरजा है अथवा वह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिंदू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बना कर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हों या न हों।

मूर्ति-कला—मूर्ति-कला में मूल आधार पत्थर, धातु,

संगीत-कला—संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कण्ठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही संगीत कला के प्राण-रूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भाव प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जङ्गली से जङ्गली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शान्त रस का प्रवाह बहा कर हमारे हृदय में शान्ति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही सङ्गीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या रसों का अनुभव कानों की माध्यमता से मन को कराया जा

दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्र-पट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देख कर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इसी प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपना ब्रश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के सम्बन्ध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत-कला—संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कण्ठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही संगीत कला के प्राण-रूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भाव प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जङ्गली से जङ्गली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शान्त रस का प्रवाह बहा कर हमारे हृदय में शान्ति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही सङ्गीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा

सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्ण-कुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचण्ड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों का आघात भी हम स्पष्ट देख या सुन कर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। सङ्गीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है। इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़ कर और कोई कला नहीं हो पाई। सङ्गीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि सङ्गीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

काव्य-कला—ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह

ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अङ्कित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव यह भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

ललित कलाओं का ज्ञान—अपने को छोड़ कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं; अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो इन्द्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भाव-चित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है, उन सब का मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुन्दर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या

उनसे जनित भावों का संमिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्त्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक-ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका सम्बन्ध मेरे पूर्व-सञ्चित अनुभवों या मेरी कल्पना शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार ,मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यन्त अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलम्बित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो सञ्चित ज्ञान हमें प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक हृदय पर प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के अन्दर माना है।

काव्य कला की विशेषता—हम पहले ही इस बात

पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़ कर शेष चारों ललित-कलाएँ वाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आंतरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित रहती है। अतएव काव्य का सम्बन्ध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र मे मुझे देखने को मिलता है। मैं उस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालो का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना, यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित हो कर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्र-पट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो

स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे सन्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रण-नीति का अवलम्बन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ, और अन्त में उस युद्ध में लड़नेवाली दोनों जातियों तथा अन्य देशों और उनके भावी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। परन्तु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदयग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सन्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परंतु मैं जब चाहूँ, तब अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति से उसे अपने अन्तःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है।

यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और वह ब्राह्य ज्ञान पर अवलंबित है; परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अंतर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि "मैंने लड़ाई देखी"; पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि "मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।"

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार कह सकते हैं, जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उस सब का बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव जीवन के लिये यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्त्व—मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्व की वस्तु हैं। बिना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास, भवभूति, भारवि, भगवान बुद्धदेव, मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचंद्र आदि से कैसे बातचीत करते, उनके कीर्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठा कर अपने जीवन को उन्नत और महत्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते!

काव्य का महत्त्व—संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसका मर्म समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य रूप को पूरा पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अंतःकरण उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है; और उसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नए अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जाति विशेष का मस्तिष्क या अंतःकरण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है; और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब सँदेसे बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य में संचित ज्ञान-भांडार के बिना मानव जीवन पशु-जीवन के समान होता। उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। (साहित्यालोचन)

(२)

स्वास्थ्य-साधन

"धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं परम्।"

इस बात का विश्वास उन्नति के लिये परम आवश्यक है कि स्वास्थ्य-रक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। बहुत कम लोग यह अच्छी तरह समझते हैं कि शरीर का संयम भी मनुष्य के कर्त्तव्यों में से है। जब तक शरीर है, तभी तक मनुष्य सब कुछ कर सकता है। लोग बात बात में प्रकट करते हैं कि शरीर उनका है, वे जिस तरह चाहें, उसे रक्खें। प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने से जो बाधा होती है, उसे वे एक आकस्मिक आपत्ति समझते हैं, अपने किए का फल नहीं समझते। यद्यपि इस शारीरिक व्यतिक्रम का कुफल भी कुटुंब और परिवार के लोगों को उतना ही भोगना पड़ता है जितना और अपराधों का, पर इस प्रकार का व्यतिक्रम करनेवाला अपने को अपराधी नहीं गिनता। मद्यपान से जो शारीरिक व्यतिक्रम होता है, उसकी बुराई तो सब लोग स्वीकार करते हैं, पर यह नहीं समझते कि जैसे यह शारीरिक व्यतिक्रम बुरा है, वैसे ही प्रत्येक शारीरिक व्यतिक्रम बुरा है। बात यह है कि स्वास्थ्य के नियमों

का उल्लंघन भी पाप है। आत्म-संस्कार की वह शिक्षा अधूरी ही समझी जायगी जिसमें शरीर-संयम की व्यवस्था और स्वास्थ्य-रक्षा का विधान न होगा। इसी से बड़े बड़े विद्यालयों में, जिनमें वैज्ञानिक-शिक्षा का पूर्ण प्रबंध है, शरीर-विज्ञान को अच्छा स्थान दिया जाता है। अपने कल्याण के लिये जैसे गणित के नियमों और शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, वैसे ही शरीर-यंत्र की उन क्रियाओं का जानना भी परम आवश्यक है जिनके द्वारा जीवन की स्थिति रहती है। जब शरीर अस्वस्थ रहता है, तब चित्त भी ठीक नहीं रहता। प्रौढ़ बुद्धि और सूक्ष्म विवेक के लिये पुष्ट शरीर का होना आवश्यक है।

स्वास्थ्य का बड़ा भारी नियम इस रूप में कहा जा सकता है। शरीर की शक्तियों का जो नित्यशः क्या, प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, उसकी पूर्ति का ठीक ठीक प्रबंध परम आवश्यक है। शरीर की जो गरमी बराबर निकलती रहती है और उसके संयोजक द्रव्यों का जो क्षय होता रहता है, उसकी कड़ी सूचना भूख और प्यास के वेग द्वारा मिलती है। जिस प्रकार किसी सेना के सिपाही अधिपति से कहते हैं कि और सामग्री लाओ, नहीं तो हड़ताल कर देंगे, उसी प्रकार शारीरिक शक्तियाँ भी शरीरी से अपनी पुकार सुनाती हैं और काम बंद करने की धमकी देती हैं। बुद्धिमान् मनुष्य अपना लाभ सोच कर उनकी सूचना पर ध्यान देता है और उन्हें आवश्यकता के अनुसार ताजी हवा, अन्न और जल पहुँचाता है। जिन अवयवों से

स्वच्छ वायु का उपयोग होता है, उन्हें श्वासग्राहक अवयव कहते हैं। जो भोजन ग्रहण करते और उसका रस तैयार करते हैं, उन्हें पाचक अवयव कहते हैं। जो सारे शरीर में रक्त द्वारा वायु और रस का संचार करते हैं, वे संचारक अवयव कहलाते हैं। जो शरीर के अनावश्यक द्रव्यों को बाहर करते हैं, वे मल-वाहक अवयव कहलाते हैं। बहुत सी अवस्थाओं में तो अधिकतर यह मनुष्यों ही के वश की बात है कि वे इन अवयवों को स्वस्थ दशा में रक्खें जिसमें वे अपना काम ठीक ठीक कर सकें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उनके शरीर के अन्दर जो क्षय होता है, वह पोषण की अपेक्षा अधिक होगा, जिसका परिणाम रोग और मृत्यु है। उनका मस्तिष्क और हृदय भी, जो जीवन के आधार हैं, अशक्त होने के कारण अपना काम छोड़ देंगे। पर जो लोग इस विषय में अपने लाभ और कर्त्तव्य को विचारेंगे, वे दो बातों का पूरा ध्यान रक्खेंगे—भोजन का और व्यायाम का। संचारक अवयवों का ठीक ठीक संचार करने में व्यायाम सहायता देता है और भोजन-संचारक तथा मल-वाहक अवयवों की क्रिया का उपक्रम करता है। स्वास्थ्य के लिये और भी बहुत सी बातों का विचार रखना होता है, जैसे ताजी हवा का, ऋतु के अनुकूल कपड़े-लत्ते का, विश्राम और नींद का इत्यादि इत्यादि। पर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य भोजन और व्यायाम के विषय में पूरी सावधानी रक्खे तो वह भला-चंगा रह सकता है। यह भी आवश्यक है कि

मनुष्य सफाई से रहे और कोई ऐसा व्यवसाय न करे जो स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो।

भोजन के विषय में पक्का सिद्धांत यह है कि न बहुत अधिक खाय और न बहुत कम। अधिक खाने से कभी कभी जितनी हानि हो जाती है, उतनी कम खाने से नहीं होती। यदि तुम पक्वाशय और अँतड़ियों पर इतना बोझ डालो कि वे उसे सँभाल न सकें तो उनका काम बन्द हो जायगा। इस विषय में संयम का ध्यान बराबर रखना चाहिए और यह समझना चाहिए कि हम जीने के लिये खाते हैं, न कि खाने के लिये जीते हैं। भोजन उतना ही करना चाहिए जितने में तुष्टि हो जाय, उसके ऊपर केवल मजे के लिये खाते जाना ठीक नहीं है। शरीर-पोषण के लिये यह आवश्यक है कि जो कुछ हम खायँ, उसमें कई प्रकार के द्रव्य हों, जैसे सत्त (जो आटे, मांस, अंडे आदि में होता है), चिकनाई (जो दूध, घी, तेल आदि में होती है), लसी (जो चीनी, सावूदाने, शहद आदि में होती है) और खनिज पदार्थ (जो पानी, नमक, क्षार आदि में होते हैं)।

स्वास्थ्य के लिये जैसे यह आवश्यक है कि भोजन बहुत अधिक न किया जाय, वैसे ही यह भी आवश्यक है कि कोई एक ही प्रकार की वस्तु बहुत अधिक न खाई जाय। हमें मिला-जुला भोजन करना चाहिए, अर्थात् हमारे भोजन में कई प्रकार की चीजें रहनी चाहिएँ जिसमें आवश्यक मात्रा में वे सब द्रव्य पहुँचें

जिनसे शरीर का पोषण होता है और उसमें शक्ति आती है। कोई पदार्थ बराबर भोजन का काम नहीं दे सकता अर्थात्, शरीर के क्षय को नहीं रोक सकता, जब तक कि उसमें शरीर-तंतु बनाने-वाला सत्त न हो। जिस पदार्थ में यह सत्त आवश्यक मात्रा में होता है, वही आहार के लिए उपयोगी हो सकता है। खनिज अंश का भी उसमें रहना आवश्यक है। लसी या चिकनाई दो में से एक भी हो तो काम चल सकता है।

भोजन के विषय में ठीक ठीक कोई नियम निर्धारित करना असंभव है। प्रत्येक मनुष्य को अपने निज के अनुभव द्वारा यह देखना चाहिए कि उसे क्या क्या वस्तु कितनी खानी चाहिए। लोगों की प्रकृति जुदा जुदा होती है। कोई मांस नहीं खा सकते, कोई रोटी नहीं पचा सकते; बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनका पेट उड़द की दाल खाते ही बिगड़ जाता है। सारांश यह कि प्रत्येक मनुष्य यह आप निश्चित कर सकता है कि उसे कौन सी वस्तु अनुकूल पड़ती है और कौन सी प्रतिकूल। उसे यह उपदेश देने की उतनी आवश्यकता नहीं है कि तुम यह खाया करो, वह खाया करो। ध्यान रखने की बात केवल इतनी ही है कि भोजन भिन्न भिन्न प्रकार का हो और उसमें संयम रक्खा जाय। दो चार बातें और बतलाने की हैं। एक भोजन के उपरान्त फिर दूसरा भोजन कुछ अन्तर देकर किया जाय जिसमें पहले भोजन को पचने का समय मिले। जब तक एक बार किया हुआ भोजन पच न जाय, तब तक दूसरा

भोजन न करना चाहिए। यदि तुमने सवेरे ६ बजे कुछ जलपान कर लिया है, तो दस बजे तक के पहले भोजन न करो। इसी प्रकार सन्ध्या के समय यदि कुछ जलपान कर लिया है, तो रात को नौ बजे से पहले भोजन न करो। कसरत करने के पीछे तुरन्त भोजन न करो; शरीर को थोड़ा ठिकाने होने दो, तब उस पर भोजन पचाने का बोझ डालो। इस बात का ध्यान रक्खो कि खाने की जो चीजें आवें, वे ताजी और अच्छी हों, सड़ी गली न हों। भोजन अच्छी तरह से पका हो, कच्चा न रहे। जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें बीच बीच में मछली भी खानी चाहिए। अनाज के साथ साग-भाजी या तरकारी का रहना भी आवश्यक है। खाली सेर दो सेर दूध पी जाने की अपेक्षा उसे भोजन के साथ मिला कर खाना अच्छा है। जाड़े के दिनों में स्निग्ध पदार्थों का सेवन कुछ बढ़ा देना चाहिए और गरमी में कम कर देना चाहिए। बिना भूख के भोजन करना ठीक नहीं। भोजन का उतना ही अंश उपकारी होता है जितना पचता है, बिना पचे भोजन से हानि छोड़ लाभ नहीं। बहुत से लोग यह समझते हैं कि जितना ही भोजन पेट में जाय, उतना ही अच्छा; और वे दिन भर कुछ न कुछ पेट में डालने की चिन्ता में रहा करते हैं। फल यह होता है कि उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और उन्हें मन्दाग्नि, संग्रहणी आदि कई प्रकार के रोग लग जाते हैं।

खाद्य पदार्थों पर विचार करके अब मैं पेय पदार्थों के

विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। प्राचीन यूनानियों का यह सिद्धान्त था कि पीने के लिये पानी से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं। गरम देशों के लोगों के लिये यह सिद्धान्त बड़े काम का है। ठण्डे देशों के लोग चाय, शराब, कहवे आदि उत्तेजक पदार्थों का सेवन करते हैं। स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट मनुष्य के लिये उत्तेजक पदार्थों की उतनी आवश्यकता नहीं होती। थोड़ी चाय या काफ़ी का पीना अच्छा है, क्योंकि उससे शरीर में फुरती आती है और शरीर के क्षय का कुछ अवरोध होता है। पर चाय अधिक नहीं पीनी चाहिए, अधिक पीने से भय रहता है। चाय से क्षुधा की पूर्ति होती है, इससे यात्रा इत्यादि में उसका व्यवहार अच्छा है। एक साहब चाय की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—"चाय पीनेवाला थोड़ा खाकर भी शरीर को बनाए रख सकता है"। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पानी जिस सुगमता से पीया जाता है, उस सुगमता से चाय आदि नहीं पी जा सकती। पानी सब प्रकृति के लोगों के स्वभावतः अनुकूल होता है, पर बहुत से लोग चाय आदि नहीं पी सकते। बहुत से छात्र आजकल रात को जागने के लिये खूब चाय पी लेते हैं। यह साधन बुरा है। कसरत के समय भी चाय नहीं पीनी चाहिए। लगातार बहुत देर तक परिश्रम करने से यदि शरीर शिथिल हो गया हो तो थोड़ी सी चाय पी लेने से शरीर स्वस्थ हो जाता है; पर प्यास लगने पर पानी ही पीना ठीक होता है। गरमी के दिनों में थोड़ा शरबत पी लेने से शरीर में

ठण्डक आ जाती है और घबराहट दूर हो जाती है। सारांश यह कि खाने पीने में भी हमें उसी प्रकार विचार से, काम लेना चाहिए जैसे और सब कामों में।

अब मैं भाँग, शराब आदि उत्तेजक पदार्थों के विषय में दो चार बातें कहता हूँ। यह तो सर्वसम्मत है कि इनका नियमित और अधिक मात्रा मे सेवन दोषों का घर है। जिन्हें इनके अधिक सेवन की लत लग जाती है, उनका सारा जीवन नष्ट हो जाता है। पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि जो लोग चित्त के उदास होने या शरीर के शिथिल होने पर थोड़ी सी ठण्डाई पी लेते हैं, वे सीधे काल के मुख में ही जा पड़ते हैं। हाँ, जो लोग अपने को वश में नहीं रख सकते, जिन्हे थोड़े से बहुत करते कुछ देर नहीं, ऐसे लोगों के लिये उचित यही है कि वे मादक द्रव्यों से एक दम बचे रहें। उत्तेजक पदार्थों से बचना युवा पुरुषों के लिये बहुत अच्छा है।

उत्तेजक पदार्थों के पक्ष में इतना कहने के उपरांत मैं यह बतलाना आवश्यक समझता हूँ कि हृष्ट पुष्ट मनुष्य को, जिसे उपयुक्त भोजन और ताजी हवा मिलती है, तथा विश्राम और व्यायाम करने को मिलता है, ऐसे पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है। पाठक मेरे कथन में कुछ विरोधाभास देखकर चकित होंगे, पर बात यह है कि इस संसार में ऐसे भाग्यवान थोड़े ही हैं जिनका शरीर हृष्ट पुष्ट हो, जिन्हें बहुत अधिक काम न करना पड़ता हो, जो चिंता से पीड़ित न हों। ऐसे लोग उत्तेजक पदार्थों का थोड़ा बहुत सेवन करें तो हानि नहीं।

चालीस वर्ष की अवस्था के उपरान्त बहुत लोगों को उत्तेजक पदार्थों के सेवन की आवश्यकता होती है, क्योंकि उनसे भोजन पचता और शरीर में लगता है तथा शिथिल अंगों में काम करने की फुरती आती है। ऐसी अवस्था में भी उत्तेजक द्रव्य की मात्रा थोड़ी हो और वह क्रमशः बढ़ने न पावे।

अब रही हुक्के-सिगरेट आदि पीने की बात। इस सम्बन्ध में पहले तो यह जानना चाहिए कि भले-चंगे आदमी को तंबाकू से किसी रूप में भी कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। तंबाकू का व्यसन चाहे खाने का हो, चाहे पीने का, चाहे सूँघने का, व्यर्थ और निष्प्रयोजन ही है। इससे युवा पुरुषों को अपने कार्य्य में कोई सहायता नहीं मिल सकती। सिगरेट पीनेवाले व्यर्थ कड़ुवा धूआँ उड़ाकर परमेश्वर की स्वच्छ वायु को दूषित करते हैं और सुकुमार नासिकावालों को कष्ट पहुँचाते हैं। सुनते हैं कि चित्रकूट के पास के जंगल में दो अँगरेज सिगरेट पीते हुए सैर को निकले। रास्ते के किनारे दोनों ओर मधुमक्खियों के छत्ते थे। सिगरेट के धूएँ से मक्खियाँ इतनी बिगड़ीं कि सब छत्तों को छोड़कर निकल आईं और उन्होंने डंकों से उन साहबों को मार डाला। अधिक तम्बाकू पीने से हानि होती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर इक्कीस वर्ष से ऊपर की अवस्थावाले प्रायः बहुत से लोगों को परिमित मात्रा में तम्बाकू पीने से कोई हानि नहीं पहुँचती। पर यदि हानि न भी पहुँचे तो भी लाभ कोई नहीं है।

अब मैं व्यायाम का विषय लेता हूँ जिस पर ध्यान देने की विद्यार्थी वा युवा पुरुष को सब से अधिक आवश्यकता है। शरीर और चित्त की स्वस्थता, मन की फुरती और शक्ति की उमंग, बुद्धि की तीव्रता और मनन शक्ति की सूक्ष्मता आदि की रक्षा नियमित व्यायाम ही से हो सकती है। व्यायाम भी हमारी शिक्षा का एक अंग है। जैसे खाने और सोने के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, वैसे ही व्यायाम के बिना भी नहीं चल सकता। व्यायाम ही के द्वारा हम अपने अंगों, अवयवों और नाड़ियों की शक्ति स्थिर रख सकते हैं। व्यायाम ही के द्वारा हम अपने शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त का संचार समान रूप से कर सकते हैं, क्योंकि व्यायाम से पेशियों का दबाव रक्तवाहिनी नाड़ियों पर पड़ता है जिससे रक्त का संचार तीव्र होता है। व्यायाम ही के सहारे जीवन सुखमय प्रतीत हो सकता है, क्योंकि व्यायाम से पाचन में सहायता मिलती है और पाचन ठीक रहने से उदासी नहीं रह सकती। व्यायाम ही के प्रभाव से मस्तिष्क अपना काम ठीक ठीक कर सकता है। संसार में जितने प्रसिद्ध पुरुष हो गए हैं, उन सब ने व्यायाम का कोई न कोई ढंग निकाल रक्खा था। गोस्वामी तुलसीदास का नियम था कि नित्य सबेरे उठ कर वे शौच के लिये कोस दो कोस निकल जाते थे। शौच ही से लौटते समय उनका प्रेत के साक्षात् होना प्रसिद्ध है। भूषण कवि को घोड़े पर चढ़ने का अच्छा अभ्यास था। महाकवि भवभूति को यदि विंध्य पर्वत

की घाटियों मे घूमने का अभ्यास न होता तो वे दंडकारण्य आदि का ऐसा सुन्दर वर्णन न कर सकते। महाराज पृथ्वीराज शिकार खेलते खेलते कभी कभी अपने राज्य की सीमा के बाहर निकल जाते थे। जब तक तुम आनंददायक और नियमित व्यायाम द्वारा अपने को स्वस्थ न कर लिया करोगे, तब तक तुम्हारा अंग वा तुम्हारा मस्तिष्क ठीक नहीं रह सकता, तुम बातों का ठीक ठीक विचार और उचित निर्णय नहीं कर सकते। पीले पड़े हुए छात्रों से मैं यही कहूँगा—"गेंद खेलो, कबड्डी खेलो, पेड़ों में पानी दो, किसी न किसी तरह की कसरत करो। जो शारीरिक परिश्रम तुमसे सहज मे हो सके, उसी को कर चलो। शरीर को किसी न किसी तरह हिलाओ-डुलाओ।" मुझ से पूछते हो तो मैं टहलना या घूमना सबसे अधिक स्वास्थ्यवर्धक और आनंददायक समझता हूँ। पर तुम रुचि के अनुसार फेर-फार कर लिया करो। कभी उछलो-कूदो, कभी निशाना लगाओ, कभी तैरो, कभी घोड़े की सवारी करो। यह कभी न कहो कि तुम्हे समय नहीं मिलता या तुम्हारे पढ़ने में रुकावट होती है। पढ़ने मे रुकावट जरूर होती है, पर यह रुकावट होनी चाहिए। यह न कहो कि व्यायाम तुमसे हो नहीं सकता। तुमसे हो नहीं सकता, इसी लिये तो तुम्हें करना चाहिए। बुद्धि को पुराने समय की पोथियों के बोझ से दबाने की अपेक्षा उत्तम यह होगा कि तुम थोड़ा शरीर-विज्ञान जान लो और स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लो।

तब तुम्हें मालूम होगा कि नौ नौ दस दस घंटे तक सिर नीचा किए और कमर झुकाए हुए इस प्रकार बैठे रहने से कि नाड़ियों का रक्त स्तंभित होने लगे, तुम बहुत दिनों तक पृथ्वी पर नहीं रह सकते।

पाठक व्यायाम के लाभों को अच्छी तरह समझ कर मुझ से इसके नित्य-नियम के विषय में पूछेंगे। वे कहेंगे कि हम टहलने को तैयार हैं, पर यह जानना चाहते हैं कि कितनी दूर तक और कितनी देर तक टहलें। यहाँ मैं फिर भी वही बात कहता हूँ कि लोगों की अवस्था जुदा जुदा होती है, इससे कोई ऐसा नियम बताना जो बराबर अनुकूल पड़े, प्रायः असंभव सा है। मैं बहुतों को जानता हूँ जिन्हें अत्यन्त अधिक कसरत करने से उतनी ही हानि पहुँचती है जितनी न करने से पहुँचती है। पहले पहल एक-बारगी बहुत सा श्रम करने लगना हानिकारक क्या, भयानक है। जो मनुष्य कई सप्ताह तक बराबर कलम दवात लिये बैठा रहा है, उसका एक-बारगी उठकर बड़ी लम्बी दौड़ लगाना ठीक नहीं है। यदि किसी कारण से शारीरिक परिश्रम कुछ दिनों तक बंद रहा हो तो उसे फिर थोड़ा थोड़ा करके आरम्भ करना चाहिए और सामर्थ्य देख कर धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए। एक डाक्टर की राय है कि एक भले चङ्गे आदमी के लिये नित्य नौ मील तक पैदल चलना बहुत नहीं है। इस नौ मील में यह चलना फिरना भी शामिल है जो काम-काज के लिये होता है। पर जो लोग मस्तिष्क या बुद्धि

का काम करते हैं, उनके लिये नित्य इतना अधिक परिश्रम करना न सहज ही है और न निरापद ही। मैं तो समझता हूँ कि नित्य के लिये कोई हिसाब बाँधना उतना उपकारी नहीं है। यदि टहलते समय हमें इस बात का ध्यान रहेगा कि आज हमें इतने मील चलना है तो टहलना भी एक बोझ या कोल्हू के बैल का चक्कर हो जायगा। जो बात आनन्द के लिये की जाती है, वह इस प्रतिबन्ध के कारण पिसाई हो जायगी। मनुष्य को दो घण्टे खुली हवा में बिताने चाहिएँ और उन दो घण्टों के बीच कोई हलका परिश्रम करना चाहिए तथा किसी प्रकार के प्रतिबन्ध या हिसाब का भाव चित्त में न आने देना चाहिए। तीन मील प्रति घण्टे के हिसाब से टहलना अच्छा है।

जिन अङ्गों पर परिश्रम पड़ता है, उनके अनुसार एक डाक्टर ने व्यायाम के तीन भेद किए हैं। पहला वह जिसमें शरीर के सब भागों पर समान परिश्रम पड़ता है; जैसे तैरना, कुश्ती लड़ना, पेड़ पर चढ़ना। दूसरा वह जिसमें हाथ-पैर को परिश्रम पड़ता है; जैसे गेंद खेलना, निशाना लगाना आदि; तीसरा वह जिसमें पैर और धड़ पर जोर पड़ता है, ऊपर का भाग केवल सहायक होता है; जैसे उछलना, कूदना, दौड़ना, टहलना आदि। इन तीनों में से प्रत्येक प्रकार का व्यायाम रुचि और अवस्था के अनुसार चुना जा सकता है। यह बात भी देखनी चाहिए कि किस प्रकार की कसरत लगातार कुछ देर तक हो सकती है, किस प्रकार की

(२)

कंबोडिया में प्राचीन हिन्दू राज्य

प्राचीन काल में भारतवासी विदेशों ही को नहीं, द्वीपान्तरों तक को जाते थे। यह बात अब काल्पनिक नहीं, ऐतिहासिक है। इस विषय की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके लेखक देशी पुरातत्वज्ञ भी हैं और विदेशी भी। इस विषय में लिखे गए और प्रकाशित हुए लेखों की तो संख्या ही नहीं निश्चित की जा सकती। उन्हें तो संख्यातीत समझना चाहिए। भारतवासियों के विदेश-गमन के विषय मे आज तक जो कुछ खोज हुई है और जो कुछ लिखा गया है, इससे सिद्ध है कि ईसवी सन् से कितने ही शतक पहले से भारतवासी दूर दूर के देशो की यात्रा करने लगे थे पश्चिम में वे मिस्र, रूम, यूनान, तुर्किस्तान तक जाते थे। पूर्व में चीन, जापान, स्याम, अनाम, कंबोडिया ही तक नहीं, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली आदि द्वीपों तक भी उनका आवागमन था। उस समय समुद्र पार करना मना न था। उससे धर्म की हानि न होती थी और जाति-पाँति को धक्का न पहुँचता था। उस प्राचीन काल में भारतवासी आर्य अथवा हिन्दू व्यापार के लिये भी विदेश-यात्रा करते थे, धर्म्म-प्रचार के लिये भी करते थे और दूर देशों में बस कर अन्य मार्ग से भी धन-संचय करने के लिये करते थे।

स्याम के उत्तर-पूर्व और दक्षिण में एक बहुत विस्तृत देश है। उस पर फ्रांस की प्रभुता है। इसका संयुक्त नाम है इण्डो-चायना। इस विस्तृत देश का उत्तरी भाग टानकिना, पश्चिमी अनाम और दक्षिणी कोचीन-चाइना अथवा कंबोडिया कहलाता है। इसी अनाम और कंबोडिया में किसी समय हिन्दुओं का राज्य था। फ्रांस के कई पुरातत्त्वज्ञों और विद्वानों ने इन देशों या प्रान्तों का प्राचीन इतिहास लिखा है। उन्होंने अपने इन इतिहासों में पास-पड़ोस तक के द्वीपों तक की पुरानी बातों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर प्रोफेसर यदुनाथ सरकार ने एक छोटा सा लेख अँगरेज़ी भाषा की मासिक पुस्तक "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित कराया था। इसके सिवा विश्वभारती के अध्यापक बाबू फणीन्द्रनाथ वसु की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। उसमें प्राचीन चंपा राज्य का वर्णन है। चंपा से मतलब उस देश या प्रदेश से है जिसे आज-कल अनाम कहते हैं। प्राचीन काल में भारतवासियों ने जाकर वहाँ अपने राज्य की स्थापना की थी। फ्रेंच इतिहास-वेत्ताओं ने बहुत खोज के अनन्तर वहाँ की हिन्दू सभ्यता और शासन के संबंध में पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उन्हीं की खोज की प्रधान प्रधान बातों का समावेश वसु महाशय ने अपनी छोटी सी पुस्तक में किया है। इन समस्त पुस्तकों और लेखों में से कुछ का सार नीचे दिया जाता है।

इंडो-चायना में १२० लाख अनामी, १५ लाख कंबोडियन,

कसरत से मन में फुरती आती है और किस प्रकार की क
सहज में और सब जगह हो सकती है। इन सब बातों पर वि
करने से टहलना ही सब से अच्छा पड़ता है। पर फेर-फार
लिये और और प्रकार के परिश्रम भी बीच में कर लेना अ
है। जिमनास्टिक या लकड़ी पर की कसरत को मैं बहुत अ
नहीं समझता; क्योंकि एक तो वह अस्वाभाविक (कृत्रिम)
दूसरे उसमें श्रम अत्यन्त अधिक पड़ता है।

स्नान का स्वास्थ्यवर्धक गुण सब स्वीकार करते हैं, इसं
इसके सम्बन्ध में अति के निषेध के सिवा और बहुत कुछ
कहने की जरूरत नहीं है। बहुत से युवा पुरुष जब नदी तालाब
इत्यादि में हलते हैं, तब बहुत देर तक नहीं निकलते। यह बुरा
है। इससे त्वचा की क्रिया में सुगमता नहीं, बाधा होती है।
भोजन के उपरांत तुरन्त स्नान कभी नहीं करना चाहिए। ठण्ढे
पानी से स्नान उतना ही करना चाहिए जितने से नहाने के
पीछे खून में मामूली गरमी आ जाय। मनुष्य के रक्त में साधा-
रणतः ९८ या ९९ दरजे की गरमी होती है। यदि गरमी बहुत
घट जाय या बढ़ जाय तो मनुष्य की अवस्था भयानक हो
और वह मर जाय। ठण्ढे पानी मे स्नान करने से त्वचा शीतल
होती है, पर साथ ही खून की गरमी बढ़ती है। पर थोड़ी देर
पानी में रहने के पीछे खून की गरमी घटने लगती है, नाड़ी
मन्द हो जाती है और एक प्रकार की शिथिलता जान पड़ने

गती है। पानी से निकलने पर खून में गरमी आने लगती है ौर शरीर में फुरती जान पड़ती है। तौलिये या अँगोछे की रगड़ । यह गरमी जल्दी आ जाती है। गरम पानी से नहाने से इसका लटा असर होता है। नहाते समय त्वचा और रक्त दोनों की रमी बढ़ती है और नाड़ी तीव्र होती है। गरम पानी से निकलने पर त्वचा अत्यन्त सुकुमार हो जाती है और रक्तवाहिनी नाड़ियों के फिर ठण्डी होकर सिकुड़ने वा स्तब्ध होने का भय रहता है; इससे गरम पानी से नहाने के पीछे शरीर को कपड़े से ढक लेना चाहिए वा किसी गरम कोठरी में चले जाना चाहिए, एकबारगी ठण्डी हवा में न निकल पड़ना चाहिए।

हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को सवेरे ठंढे पानी में स्नान करने से बड़ी फुरती रहती है; पर अशक्त, दुर्बल तथा गठिया आदि के रोगियों को इस प्रकार के स्नान से बहुत भय रहता है। स्नान करना बहुत ही लाभकारी है, पर यदि समझ बूझकर किया जाय। अत्यन्त अधिक स्नान करने से, शरीर की अवस्था का विचार न करने से, लाभ के बदले हानि ही होती है।

स्वास्थ्य के संबन्ध में जितनी आवश्यक बातें थीं, उनका उल्लेख मैं संक्षेप में कर चुका। केवल एक निद्रा का विषय और रह गया है। भला चंगा आदमी जैसे यह नहीं जानता कि पेट कैसे बिगड़ता है, वैसे ही वह यह नहीं जानता कि लोगों को नींद कैसे नहीं आती। नींद के लिये उसे कोई उपाय करने की आवश्यकता ही नहीं होती।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकांश मस्तिष्क से काम करने वाले नींद की चिंता और चर्चा बहुत किया करते हैं, क्योंकि उन्हें नींद बार बार बुलाने पर भी नहीं आती। वे एक करवट से दूसरी करवट बदला करते हैं, थकावट से उनके अंग अंग शिथिल रहते हैं, पर नींद उनके पास नहीं फटकती। नींद भी क्या सुन्दर वस्तु है। जिस समय हम नींद में झपकी लेते हुए बिस्तर पर पड़ते हैं, उस समय कैसी शांति मिलती है! हाथ पैर हिलाना डुलाना नहीं चाहते, एक अवस्था में कुछ देर पड़े रहना चाहते हैं। संज्ञा भी धीरे धीरे विदा होने लगती है और चेतना हमें छोड़ कर अलग जा पड़ती है और न जाने कहाँ कहाँ भ्रमण करती है। जब मनुष्य देखे कि उसे नींद जल्दी नहीं आती, तो उसे तुरन्त उसके कारण का पता लगाना चाहिए। क्योंकि नींद का ही एक ऐसा समय है जब मस्तिष्क की शक्ति के क्षय की पूर्ति होती है। यदि यह पूर्ति न हो तो पागल होने में कुछ देर नहीं। मस्तिष्क का काम करनेवालों को हाथ पैर का काम करनेवालों की अपेक्षा नींद की अधिक आवश्यकता होती है। पर जिनको अधिक आवश्यकता होती है, उन्हीं को नींद न आने की शिकायत भी होती है। तब ऐसे लोगों को क्या करना चाहिए? जिसे उनिद्र रोग हो, उसे अपने रोग के कारण का पता लगाना चाहिए और सोने के पहले गरम पानी से स्नान कर लेना या थोड़ा टहल आना चाहिए। कभी कभी कोठरी बदल देने से भी उपकार होता है। ऐसे रोगी को नींद लाने के लिये

अफ़ीम, मॅरफ़िया आदि का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

अब यह प्रश्न रहा कि कितने घंटे सोना चाहिए। इसका भी कोई ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो सब लोगों पर बराबर ठीक घटे। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनमें अधिक काम करने की शक्ति होती है और वे कम सोते हैं। सोने की आवश्यकता जब पूरी हो जाती है, तब प्रकृति प्रायः आप से आप जगा देती है। पर साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लिखने-पढ़नेवाले लोगों को कम से कम सात घंटे सोने की आवश्यकता होती है। यदि ११ बजे सोवेंगे तो ६ बजे उठ जाने में उन्हें कोई कठिनता न होगी। जाड़े के दिनों में यदि सबेरे आधा घंटा और सोया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। कृष्ण पक्ष में शुक्ल पक्ष की अपेक्षा सोने की अधिक आवश्यकता होती है। सबेरे उठना बहुत ही अच्छी बात है, पर इस प्रकार का सबेरे उठना नहीं कि सोने के लिये पूरा समय ही न मिले। सबेरे वही उठ सकता है जो रात को जल्दी सो जाय। यदि विद्यार्थी दस बजे दिया बुझा दे तो पाँच बजे सबेरे उठ सकता है।

(आदर्श जीवन)

(३)

कंबोडिया में प्राचीन हिन्दू-राज्य

प्राचीन काल में भारतवासी विदेशों ही को नहीं, द्वीपान्तरों तक को जाते थे। यह बात अब काल्पनिक नहीं, ऐतिहासिक है। इस विषय की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके लेखक देशी पुरातत्त्वज्ञ भी हैं और विदेशी भी। इस विषय में लिखे गए और प्रकाशित हुए लेखों की तो संख्या ही नहीं निश्चित की जा सकती। उन्हें तो संख्यातीत समझना चाहिए। भारतवासियों के विदेश-गमन के विषय में आज तक जो कुछ खोज हुई है और जो कुछ लिखा गया है, इससे सिद्ध है कि ईसवी सन् से कितने ही शतक पहले से भारतवासी दूर दूर के देशों की यात्रा करने लगे थे। पश्चिम में वे मिस्र, रूम, यूनान, तुर्किस्तान तक जाते थे। पूर्व में चीन, जापान, स्याम, अनाम, कंबोडिया ही तक नहीं, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली आदि द्वीपों तक भी उनका आवागमन था। उस समय समुद्र पार करना मना न था। उससे धर्म की हानि न होती थी और जाति-पाँति को धक्का न पहुँचता था। उस प्राचीन काल में भारतवासी आर्य अथवा हिन्दू व्यापार के लिये भी विदेश-यात्रा करते थे, धर्म-प्रचार के लिये भी करते थे और दूर देशों में बस कर अन्य मार्ग से भी धन-संचय करने के लिये करते थे।

स्याम के उत्तर-पूर्व और दक्षिण में एक बहुत विस्तृत देश है। उस पर फ्रांस की प्रभुता है। इसका संयुक्त नाम है इण्डो-चायना। इस विस्तृत देश का उत्तरी भाग टानकिना, पश्चिमी अनाम और दक्षिणी कोचीन-चाइना अथवा कंबोडिया कहलाता है। इसी अनाम और कंबोडिया में किसी समय हिन्दुओं का राज्य था। फ्रांस के कई पुरातत्त्वज्ञों और विद्वानों ने इन देशों या प्रान्तों का प्राचीन इतिहास लिखा है। उन्होंने अपने इन इतिहासों में पास-पड़ोस तक के द्वीपों तक की पुरानी बातों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने एक छोटा सा लेख अँगरेज़ी भाषा की मासिक पुस्तक "मार्डन रिव्यू" में प्रकाशित कराया था। इसके सिवा विश्वभारती के अध्यापक बाबू फणीन्द्रनाथ वसु की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। उसमें प्राचीन चंपा राज्य का वर्णन है। चंपा से मतलब उस देश या प्रदेश से है जिसे आज-कल अनाम कहते हैं। प्राचीन काल में भारतवासियों ने जाकर वहाँ अपने राज्य की स्थापना की थी। फ्रेंच इतिहास-वेत्ताओं ने बहुत खोज के अनन्तर वहाँ की हिन्दू सभ्यता और शासन के संबंध में पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उन्हीं की खोज की प्रधान प्रधान बातों का समावेश वसु महाशय ने अपनी छोटी सी पुस्तक में किया है। इन समस्त पुस्तकों और लेखों में से कुछ का सार नीचे दिया जाता है।

इंडो-चायना में १२० लाख अनामी, १५ लाख कंबोडियन,

१२ लाख लाउस, २ लाख चम और मलाया, १ हजार हि
और ५० लाख असभ्य जंगली आदमी रहते हैं। अनामी, कंबोडि
यन और लाउस नाम के अधिवासी बौद्ध हैं। जो एक हजार हिन
हैं, वे सब के सब तामील हैं। चम और मलाया लोग प्राय
मुसलमान हैं। उनमें से कोई २५ हजार चम, जो अनाम के वासी
हैं, बहुत प्राचीन ब्राह्मण-धर्म्म के अनुयायी हैं। वे सब शैव हैं और
अपने को "चमजात" कहते हैं।

खोज से मालूम होता है कि कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतवासियों ने पहले-पहल स्याम के पूर्वी प्रदेशों और द्वीपों को जाना आरंभ किया था। बहुत करके ये लोग प्राचीन कलिंग और तैलंग देश के समुद्र तटवर्ती प्रांतों से उस तरफ गए, क्योंकि वही प्रांत वर्तमान अनाम और कंबोडिया आदि प्रांतों के निकट हैं। उस समय समुद्र मार्ग से वहाँ जाने में विशेष सुभीता रहा होगा। भारतवासियों का खयाल था कि वर्तमान इंडो-चायना के दक्षिणी और पूर्वी भाग धन-धान्य से बहुत अधिक संपन्न हैं। इसी से उन भागों को वे लोग 'सुवर्ण-भूमि' कहते थे। जानेवालों में से कुछ तो वनिज-व्यापार करनेवाले थे, कुछ सैनिक थे और कुछ ब्राह्मण थे। पहले तो ये लोग रुपया पैदा करने ही के लिये जाते रहे होंगे और धीरे धीरे उनमें से बहुत लोग वहीं बस भी गए होंगे। उनकी संख्या बढ़ने पर धर्म्म-प्रचार और पौरोहित्य कार्य्य करनेवाले भी पीछे से जाने लगे होंगे। इस तरह का आवा-

गमन सैकड़ों वर्षों तक जारी रहने पर वहाँ गये हुए भारतवासियों के उपनिवेश, विशेष विशेष जगहों में, हो गये होंगे। उस समय उन देशों में रहनेवाले लोग सभ्य और शिक्षित न थे। उन पर भारतवासियों के आचार-व्यवहार और धर्म्म आदि का प्रभाव पड़े बिना न रहा होगा। बहुत संभव है, सौ दो सौ वर्ष साथ साथ रहने पर, उन्होंने वहाँवालों को अपने धर्म्म का अनुयायी बना लिया हो, असभ्यों को सभ्यता प्रदान की हो और उनमें से बहुतों को अपना दास, सेवक या कर्म्मचारी बना लिया हो। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के पत्थरों पर खुदे हुए कई लेख इंडो-चायना में मिले हैं। वे सब विशुद्ध संस्कृत में हैं। इससे सूचित होता है कि उस समय वहाँ भारतवासियों का आधिपत्य दृढ़ता को पहुँच गया था। इससे यह भी सूचित होता है कि उस समय के हजार पाँच सौ वर्ष पहले ही से भारतवासी वहाँ जाने लगे होंगे। बिना इतना काल व्यतीत हुए विदेशी भारतवासियों की स्थिति वहाँ बद्ध-मूल न हुई होगी। संस्कृत भाषा का प्रचार और शिलालेखों पर ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अन्य देश-वासी अल्पकाल स्थायी यात्रियों के द्वारा सम्भव नहीं। अतएव ईसवी सन् के कम से कम सात आठ सौ वर्ष पहले ही से भारत-वासी वहाँ बसने लगे होंगे।

बौद्ध धर्म्म की उत्पत्ति ईसवी सन् के कोई पाँच सौ वर्ष पहले हुई। अशोक के समय में उसने बड़ी उन्नति की। भारत-

के अधिकांश भागों में उसकी तूती बोलने लगी। बौद्ध श्रमण विदेशों में भी जाकर अपने धर्म्म का प्रचार करने लगे। इसमें संदेह नहीं कि वे लोग प्राचीन चंपा (अनाम) और कंबोडिया (कांबोज) में भी पहुँचे और वहाँ भी अपने धर्म्म का प्रचार किया। धीरे धीरे हिन्दू-धर्म्म के अनुयायियों के साथ ही साथ वहाँ बौद्ध-धर्म्म के अनुयायियों की भी संख्या बढ़ गई और ये दोनों संप्रदायवाले वहाँ पाये जाने लगे।

चंपा और काम्बोज में जब से बौद्ध-धर्म्म पहुँचा, बराबर उन्नति करता गया। वह वर्द्धिष्णु धर्म्म था, भारतवासियों की *तत्कालीन प्रकृति के वह अनुकूल था। इसी से उसकी दिन दिन* वृद्धि होती गई। फल यह हुआ कि हिन्दू-धर्म्म के अनुयायियों की संख्या कम होती गई और बौद्ध-धर्म्म के अनुयायियों की बढ़ती गई। कंबोडिया (कांबोज) में जो शिला लेख मिले हैं, उनसे सूचित होता है कि तेरहवीं सदी तक बौद्ध और हिन्दू दोनों ही वहाँ साथ ही साथ रहते थे। बौद्ध तो महायान संप्रदाय के माननेवाले थे और हिन्दू प्रायः शैव थे। उस समय तक दोनों धर्म्मों के अनुयायी संस्कृत भाषा का आदर करते थे। उनके शिलालेखों में यह भाषा बहुत ही विशुद्ध रूप में पाई जाती है।

आर्य्यों ने अपने उपनिवेश चंपा और कांबोज ही में नहीं स्थापित किये। वे वहाँ से आगे बढ़ते हुए टापुओं तक में जा बसे। जावा में कुछ ऐसे शिलालेख मिले हैं जो ४०० ईसवी

के अनुमान किये गये हैं। वे सभी संस्कृत में हैं। उनमें नारुम-नगर के राजा पूर्ण वर्म्मा का उल्लेख है। बोर्नियो नाम के टापू में भी संस्कृत-भाषा में खुदे हुए शिलालेख मिले हैं। उनमें भी जिन राजों के नाम आये हैं, सभी के अन्त में 'वर्म्मा' शब्द है। सुमात्रा टापू में तो अनेक शिलालेख पाये गये हैं। वे भी संस्कृत ही में हैं। उनमें भी वर्म्मान्त-नामधारी नरेशों के उल्लेख हैं। इन लेखों का प्रकाशन और संपादन फेरांड नाम के एक विद्वान् ने किया है। प्राचीन काल में सुमात्रा द्वीप श्रीविजय नाम से ख्यात था।

कम्बोडिया अर्थात् प्राचीन कांबोज का पहला वर्म्मा-नामधारी राजा श्रुत-वर्म्मा था। उसने अपने राज्य की सीमा की विशेष वृद्धि की थी और उसे स्थायित्व प्रदान किया था। वह कौंडिन्य गोत्र का था। शिलालेखों में उसने अपने को सोमवंशी बताया है। उसने ४२५ से ४९५ ई० तक राज्य किया। ६८० ई० तक वहाँ वर्म्मा-नामधारी सात नरेशों ने राज्य किया। उसके बाद कोई सौ वर्ष तक अराजकता सी रही। तदनन्तर १२ नरेश वहाँ और हुए। उनके नामों के अन्त में "वर्म्मा" शब्द था। इस तरह कांबोज में २५ राजे ऐसे हुए जिनके उल्लेख शिलालेखों में पाये जाते हैं। प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए शिलालेख ही सबसे अधिक विश्वसनीय साधन हैं। और चूँकि इन सब राजों के नाम, धाम और काम आदि का वर्णन इन्हीं से मालूम हुआ है, अतएव इन बातों के सच होने में जरा भी संदेह नहीं।

ईसा के छठे शतक मे कांबोज में भव-वर्म्मा नाम का एक राजा था। वह शैव था। देवी-देवताओं के विषय में उसकी बड़ी पूज्य-बुद्धि थी। उसने कितने ही मन्दिर बनवाये और उनमें देव-विग्रहो की स्थापना की। एक मन्दिर मे उसने रामायण, महाभारत और अष्टादश-पुराणों की पुस्तकें रखवा दीं और उनके यथा-नियम पारायण का प्रबन्ध कर दिया। सातवें शतक मे ईशान वर्म्मा नाम का एक राजा इतना शिवोपासक हुआ कि उसने अपनी राजधानी का नाम बदल कर ईशानपुर कर दिया।

कांबोज में जितने प्राचीन शिलालेख मिले हैं, सब संस्कृत मे हैं। उनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से बहुत ही शुद्ध है। उसमे लालित्य और रसालत्व भी है। इन लेखों की प्रणाली बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि भारत में प्राप्त हुए उस समय के शिलालेखों की है। इनमें सर्वत्र शाक-संवत् का प्रयोग है और वह भी उसी ढंग से किया गया है जिस ढंग से कि यहाँ के शिलालेखों में पाया जाता है। जो चीज जिसे दी गई, उससे छीननेवालो को महारौरव नरक मे ढकेले जाने की बिभीषिका दिखाई गई है। यह विभीषिका भी भारतीय शिलालेखों ही की नकल है।

प्राचीन कांबोज के प्रांतों और नगरों के नाम भी वैसे ही थे जैसे कि इस देश के हैं। यथा पांडुरङ्ग, विजय, अमरावती आदि।

कांबोज में प्राप्त शिलालेखों से विदित होता है कि वहाँ किसी समय क्षत्रिय-नरेशों की राजकुमारियाँ ब्राह्मणों को भी

ब्याही जाती थीं। वेद-वेदांग में पारङ्गत अगस्त नाम का एक ब्राह्मण ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में, "आर्य्य-देश" से कांबोज को गया था। वहाँ उसने राजकुमारी यशोमती का पाणि-ग्रहण किया था। उसी का पुत्र नरेंद्रवर्म्मा वहाँ के राजसिंहासन का अधिकारी हुआ और राज्य-संचालन भी उसने किया। दसवीं शताब्दी में राजा राजेन्द्रवर्म्मा की कुमारी इन्द्रलक्ष्मी का विवाह यमुना-तट के निवासी दिवाकर नाम के विद्वान् ब्राह्मण से हुआ था। वासुदेव ब्राह्मण और जयेन्द्र-पंडित के साथ भी कांबोज की राजकुमारियों का विवाह हुआ था।

कांबोज में जन्म-मृत्यु आदि से संबंध रखनेवाले संस्कार भी हिन्दू-धर्मशास्त्रों के ही अनुसार होते थे। मृत प्राणी "शिवलोक" को प्राप्त होते थे। नये नरेशों के सिंहासनासीन होने पर अभिषेक का काम दिवाकर, योगीश्वर और वामशिव आदि नामधारी पंडित कराते थे। राजगुरुओं का बड़ा मान था। वे अपने शिष्य राजों को धर्म्मशास्त्र, नीति और व्याकरण आदि पढ़ाते थे। कांबोज-नरेश महाहोम, लक्षहोम, कोटिहोम, भुवनार्ध और शास्त्रोत्सव आदि धार्मिक कृत्य करते थे।

ईसा के सातवें शतक तक बौद्ध धर्म का प्रचार कांबोज में था। हाँ, वह अपने शुद्ध रूप में न रह गया था। उसके अनु-यायियों के आचार और धार्मिक व्यवहार हिन्दुओं के आचार-व्यवहार से कुछ मिल गये थे। दोनों का संमिश्रण सा हो गया

था। शिव और विष्णु के मंदिरों को जैसे धन, भूमि, दास-दासियाँ और नर्तकियाँ दान के तौर पर दी जाती थीं, वैसे ही बौद्ध-विहारों को भी दी जाती थीं।

बौद्ध-धर्म्म से संबंध रखनेवाली और जातकों में वर्णन की गई कथाओं की दर्शक मूर्तियाँ भी कांबोज में पाई गई हैं। पर उनकी संख्या कम है। हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का ही आधिक्य है। सबसे अधिक मूर्तियाँ शिव, उमा और शक्ति की पाई गई हैं। उसके बाद विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, गणेश, स्कन्द और नन्दी आदि की।

(सरस्वती, सितम्बर १९२६)

(४)

विद्या और बुद्धि

भाव छिपाने के लिये ईश्वर ने मनुष्य को भाषा दी है; और सरस्वती माता विद्या दिया करती हैं, सत्य से नाहीं करने के लिये। जिनके पेट में अधिक विद्या है, वे हल को नेस्त और 'नहीं' को 'है' कर दिखा सकते हैं। समाचारपत्रों के संपादक लोग इस बात के प्रमाण हैं। चूहों की तरह सत्य भी आज-कल छापेखाने की कल में पड़कर चबेना खाता है। छोटे-पन में मैं समझता था कि छापे के अक्षरों में जो छपता है, वह झूठ नहीं हो सकता। इस कारण मुझ में समाचारपत्रों की बात पर विश्वास नहीं करने का सामर्थ्य नहीं था। परन्तु अब समझता हूँ कि सम्वादपत्रों के संवादों को उलटकर पढ़ने से ही सत्य का पता चलता है।

जन्मान्तर का रहस्य जाननेवाले एक सिद्ध साधु ने मुझ से कहा था कि पूर्व-जन्म में आदमियों के एक दल ने भर पेट अन्न के लिये बार बार वर माँगने जाकर जब विधाता को तंग कर डाला, तब उन्होंने कहा था—"अच्छा जाओ, तुम लोग मर्त्यलोक में जाकर सम्पादक हो जाओ। जो कुछ तुम लोग लिखोगे, वह सब झूठ होने पर भी उसको बेच कर अपना

पेट चला सकोगे। तुम में विद्या न होने पर भी बुद्धि की कमी नहीं होगी।"

पेट का गल-ग्रह बड़ा भारी है। यह पेट और दूसरे अंगों की कहानी से साबित है। केवल हाथ पाँव ही पेट के लिये परिश्रम नहीं करते। साहित्य की लेखनी भी सब तरह से इसी उदरदेव का दासत्व किया करती है। ऐतिहासिक लोग इतिहास लिखते हैं, पेट के लिये। इसलिये उसे स्कूल पाठ्य होना चाहिए और उसमें उसी के लायक बातें रहनी चाहिएँ, नहीं तो सब मेहनत चूल्हे में चली जायगी। हमारे गाँव के स्कूल के हेड मास्टर ने एक सचित्र पाठ्य पुस्तक लिखकर अफसरों के द्वार पर जा-जा कर सफलता पाई थी। वे कहते थे—"स्कूल के लड़के आजकल जैसे नीतिभ्रष्ट और उच्छृंखल हो रहे हैं, उससे उन्हें पाठ्य पुस्तकों के जरिये थोड़ी सी राजभक्ति सिखलाने की जरूरत आ पड़ी है।" उनकी बात जरूर संगत और युक्तिपूर्ण है; क्योंकि पंडित विष्णु शर्मा कह गये हैं:—"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्" अर्थात् कच्ची हाँडी पर दाग देने से वह दाग पक जाने पर उस पर वैसा ही सदा बना रहता है।

एक दिन एक समाचार-पत्र के संपादक ने एक हेड मास्टर से कहा—"आप लोग पाठ्य पुस्तकों में छात्रों को राजभक्ति के साथ कुछ सरल राजनीति क्यों नहीं सिखलाते? हमारे सभ्य राजपुरुष विदेशी होने पर भी भारतवर्ष में आकर इस देश की

प्रजा का कितना कल्याण कर रहे हैं, आप लोगों को पाठ्य पुस्तकों में इस बात का अवश्य उल्लेख करना चाहिए। उनके उद्योग से इस देश के कितने स्थानों में कितने सौ स्कूल कालेज खुले हैं और उनसे देश के सब दरजे के लोगों मे किस तरह शिक्षा और ज्ञान फैल रहा है, उनकी चेष्टा से चारों ओर रेलवे, टेलीग्राफ, डाकघर और अस्पताल होने से सर्व-साधारण को कहाँ तक सुभीता हुआ है, उनके सुशासन से सर्वत्र शांति स्थापित होने से कृषि, शिल्प और वाणिज्य में कहाँ तक उन्नति हुई है, उससे देशवासियों को कितना सुख, सम्पदा और स्वास्थ्य मिला है और पृथ्वी के अन्य अन्य देशों के लोगो से भारतवर्ष के लोग कितना उपकार पा रहे हैं, ये सब बातें छात्रों को सिखलाने से उनमें राजपुरुषों की सच्ची श्रद्धा बढ़ेगी और उनमें Anti-foreign feeling या विदेशी-विद्वेष का बीज नहीं उग सकेगा।"

ये बातें सुनकर हेड मास्टर साहब बहुत डरे। बोले—"बाप रे बाप! यह सब तो पालिटिक्स है। स्कूल के लड़कों के लिये पालिटिक्स नहीं है। उनमें यदि पालिटिक्स घुस पाया तो फिर उनकी राजभक्ति नहीं टिक सकेगी।" किसी किसी के मत से यही बात ठीक है। खैर जो हो, मास्टर साहब की बात सुनकर मुझे उस कृपण की बात याद आ गई जो आलू और सिंघाड़े के छिलके की बढ़िया तरकारी बनाता था। कहता था—यह तरकारी पानी का तड़का देकर बनानी चाहिए, फिर तो यह उड़ चलेगी।

इसमें जहाँ तेल या मिर्च मसाला पड़ा कि एक दम चौपट हुआ।

इन दिनों इस देश के साहित्य के रसोई-घरों में जो कुछ तरकारियाँ बनती हैं, वे सब जल का स्वच्छ तड़का देकर ही बनती हैं। देशी समाचार-पत्रों में तो तेल या मिर्च-मसाले की गन्ध भी नहीं रहती। रूटर आदि बावर्ची विदेश से हम लोगों की जीभ के लायक जो कुछ अन्न-व्यञ्जन तैयार करके भेजते हैं, उनमें नमक या चरपराहट मानो रहती ही नहीं। न जाने वह पकानेवाले का दोष है या हम लोगों की जीभ का कसूर है। मासिक-पत्रों के पृष्ठों में तो केवल सड़े हुए प्रत्न-तत्व या पुरातत्व की तरकारी ही तह करके सजी रक्खी रहती है और उसमें बहुधा बदबू निकला करती है। लेकिन पाठक उसी को उदरस्थ करके लेखक के हाथ की तारीफ करते हैं और लेखक उससे फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। Foreign अर्थात् विदेश से आई हुई पत्रिकाओं में जो प्रबंध रहते हैं, उनमें लहसुन प्याज की उग्र गन्ध भरी रहती है। इस देश के लोगों का पेट उनके ये तामस तेजोमय पदार्थ नहीं सँभाल सकता; इस कारण खाते ही उदर देव उफान दे देते हैं।

साहित्य की हाँड़ी में लकड़ी डालकर उसे माँजने या साफ करने की इच्छा मुझमें छोटी उम्र से थी। इस काम में जो विद्या-बुद्धि दरकार होती है, वह मुझ में नहीं थी, यह तो मैं नहीं कह सकता, क्योंकि दादा मुझे 'बुद्धि की टेकी' कहा

करते थे और उन्हीं के मुँह से सुना था कि मुझ में विद्या भी चारों पाँव से चुस्तदुरुस्त है। अतएव मैंने हिम्मत बाँधकर पहले समाचार-पत्र का सवाद-दाता बनकर कलम चलाना शुरू कर दिया। कलकत्ते के एक दैनिक पत्र के सपादक से ठीक करके मैं उसमे अपने गाँव और आस-पास की सब खबरें देने लगा और सब मे उस पत्र का विशेष सवाद-दाता बनकर परिचय देने लगा। मेरे गाँव में दो विरोधी दल थे। एक बार मैंने उनके संबंध में एक बड़ा सा लेख लिखकर भेजा। उसमें मैंने अपने विपक्षी दल को खूब ही आडे हाथों लेकर अपनी साध मिटाई। लेकिन सपादक महाशय ने उसे छापा नहीं। मैंने कारण पूछा, तो उत्तर में उन्होंने लिखा—"आपका लेख मानहानिकर हो गया है। उसके छापने से हम लोग अदालत मे दड पा सकते हैं। फिर आपके गाँव की तटबदी की बातें सुनने के लिये देश के लोग उत्कठित हैं, यह हम लोग नहीं समझते। आप यह सब झगड़े की बातें न लिखकर वहाँ के हवा-पानी, स्वास्थ्य और बादल-वर्षा, उपज आदि की बातें घुमा फिराकर लिखा कीजियेगा। और खबरें न रहने पर पत्र का कलेवर पूरा करने के लिये हम उन्हे खुशी से प्रकाशित कर दिया करेंगे। यह प्रबंध आपका बड़ा लबा है, बल्कि प्रबध नहीं इसे एक पुस्तक कहना चाहिए। आप चाहें तो इसको पुस्तकाकार छपवा सकते हैं, या किसी मासिक पत्र में क्रमशः छपने के लिये भेज सकते हैं।"

संपादक महाशय का यह उत्तर पढ़ने पर मेरा साहस बढ़ गया। मन में यह समझ कर खुशी हुई कि अब मैं मासिकपत्रों का लेखक, या ग्रंथकार हो गया हूँ। बस अब मैं समाचारपत्र छोड़कर मासिक-पुस्तकों में लेखनी दौड़ाने लगा। अब मेरा लेख पाने के लिये धीरे धीरे संपादकगण आग्रह करने लगे। मेरे लेखों में विशेषता ही ऐसी रहती थी कि इनका आदर इतना बढ़ गया। यदि मैं कोई बड़ा विषय लिखने बैठता था तो उसमें अपने नाम का ढोल जरूर पीटता था, क्योंकि मैंने समझ लिया था कि इस बाजार में अपने नाम का ढोल पीटे बिना नाम होता ही नहीं।

एक बार मैंने एक मासिक-पत्र में "भारत में आर्य्य जाति का अभ्युत्थान" शीर्षक लेख भेजा था। उस प्रबंध में मुझे अपने जीवन की भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ लिखना पड़ा था; क्योंकि पाठक खुद लिखनेवाले की ही बात सुनने के लिये सदा कान खोले रहते हैं। इस कारण उनकी उत्कंठा मिटाने के लिये मुझे लिखना पड़ा कि आर्य्य-वंश में जन्म लेकर कैसे मैं माता तथा धाय की गोद में पला था। जब छोटा था, तब मैंने कैसे गुरजी के लिए प्रतिदिन एक चिलम तम्बाकू भरकर लिखना पढ़ना सीखा था। अब बालिग (सयाना) होने पर मुझे कैसे देशहित के लिये मासिकपत्रों में लेखनी चलानी पड़ी है और भविष्य में जब मेरा विवाह होगा, तब मुझे सुसराल जाकर कैसे साली, साले और सलहज

में अपनी बहादुरी के किस्से कहकर रात काटनी होगी। लेखक की इस आत्मकथा से ही प्रबंध का कलेवर भर गया था, इस कारण उसके नीचे 'क्रमशः' लिखकर सम्पादक के नाम भेज दिया।

कई दिन पीछे सम्पादक ने मेरा लेख लौटा दिया और लिख भेजा—"आप सुसराल जा कर जब आत्म-कहानी रूपी सहस्र-रजनी चरित कहना शुरू करेंगे, तब आशा है कि आपका कोई चतुर श्यालक आपका पेट खुजला देगा, नहीं तो रात को वहाँ कोई सोने नहीं पावेगा। सुना है, बकरा जब किसी नई जगह में लाया जाता है, तब रात भर चिल्लाता रहता है, किसी को सोने नहीं देता। पर उसका पेट खुजला देने से वह चुप हो जाता है।"

मैंने खूब गवेषणा करके ठीक किया कि संपादक जी ने जो बकरे के साथ मेरी उपमा दी है, वह समीचीन नहीं है; क्योंकि उसकी तरह मुझे छोटी दुम नहीं है। मेरे माथे पर न सींग हैं न चमड़े पर घने रोएँ हैं। असल में मैं आर्य्य जीव विशेष हूँ। इस कारण मैंने अपनी बात पर प्रकारान्तर से आर्य्य जाति की बात कही थी, यह सम्पादक महाशय की समझ में नहीं आया। जो हो, इस बार पहला मामला होने के कारण मैंने उनकी ना-समझी माफ कर दी और उनकी पत्रिका के लिये इस बार अपना एक सचित्र भ्रमण-वृत्तान्त लिख भेजा।

अपने खास गाँव और आस-पास के गाँवों को देखकर

बड़ी मेहनत से मैंने यह यात्रा-विवरण तैयार किया था। उसमें पगडंडी के बगलवाले ललित ब्रह्म के चबूतरे के और आस-पास के सुन्दर हरे-भरे खेतों के बहुत से चित्र दिये थे। एक साल गाँव के मालगुजार ने भीड़-भाड़ करने के विचार से जन्माष्टमी का उत्सव किया था। उसी साल गाँव के सब शौकीनों ने गोकुल और बरसाने की नकल करके खूब दधिकाँदो खेला था। उसका भी वर्णन दिया था। पास के एक गाँव में एक प्राचीन कवि हो गये हैं। उनके 'रासलीला' नामक काव्य के दीमक के खाये हुए पुराने-धुराने एक पन्ने का लाइन-ब्लाक चित्र भी दिया था। संपादक ने बड़े आग्रह से वह भ्रमण-वृत्तान्त छापा और खास चिट्ठी में मुझे जी खोल कर धन्यवाद दिया। इसके कुछ ही दिन बाद प्राचीन ग्रंथों की खोज करनेवाले विभाग से मुझे चिट्ठी मिली कि मैं उस पूरी पुस्तक का "यथा-मूल" संपादन कर दूँ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने उस पुस्तक का संपादन कर दिया और उक्त विभाग से मुझे प्रतिष्ठा का सार्टिफिकेट मिला। उसके प्रधान अफसर ने कहा कि इस नव-संपादित ग्रंथ में सर्वत्र ही मौलिक आदि रस को आद्यन्त मध्य रस बना कर खूब प्रस्फुटित किया गया है। इसमें कहीं वस्तु-तंत्र का अभाव नहीं हुआ है। मैं जानता था कि जो बात साधारण भाव से कहने में अश्लील और अरुचिपूर्ण हो सकती है, उसी को प्राचीन काव्य की दुहाई देकर कृष्ण-प्रेम के परदे में प्रकाशित करने

से सब लोग बड़ी रुचि से उपभोग करते हैं। कारण जो बात देवों की 'लीला' कहलाती है, वही मनुष्य के लिये 'पाप' बन जाती है। इस ग्रंथ से लोगों को हमारी विद्या का परिचय मिल गया, परंतु वह किस दरजे की विद्या है, यह मैं नहीं कह सकता।

मादक द्रव्यों की तरह विद्या भी स्थूलतः दो भागों में बाँटी जा सकती है। एक भाग में स्टीम्युलेंट (Stimulant) है जो पेट में पड़ते ही ब्राण्डी की तरह जोश पैदा करती है और चाल-चलन में दौड़-धूप का भाव ला देती है। जैसे पाश्चात्य विद्या है। किसी जाति के पेट में यह विद्या पड़ी कि वह रेल के इञ्जिन की तरह सामने चाहे जैसी लाइन मिले, बराबर हड़हड़ पटपट करती हुई दौड़ने लगती है। हमारे यंग-इंडिया के पेट में पड़ कर इस विद्या ने उसको उन्मत्त कर दिया है। उसी नशे के झोंक में वे लोग समाज को बिलकुल उलट-पुलट कर रहे हैं। गुरुजनों को 'ओल्डफूल' कह कर डोन्ट केयर (Don't care) कह रहे हैं। उनका यह ऊधम दूर करने के लिये सरकारी अफसर और समाज के नेता लोग मिलकर कोशिश कर रहे हैं। शराब बेचने-वाले की दूकान पर बोतलों में मदिरा सजी रक्खी रहती है और मतवाले को गिरफ्तार करने के लिये दूकान के सामने सर-कारी सड़क पर पुलीस डंडा ताने तैयार रहती है। मैं समझता हूँ, इस देश के अँग्रेजी स्कूल-कालेज सब इसी तरह की शराब

की दूकानें हैं। यंग-इंडिया इनमें पाश्चात्य विद्या का 'डोज़' लेकर राजनीतिक रास्ते पर पैर रखता और आफ़त में पड़ता है। यह विद्या पाश्चात्य जाति ही के पेट में हजम होती है। इस देश के लोगों को इसका सेवन करना उचित नहीं है।

इस कारण भारतवासियों के लिये मैं एक दूसरी तरह की विद्या उत्तम समझता हूँ। वह प्राचीन प्राच्य विद्या है। गाँजे और अफीम की तरह यह विद्या भीतर जाने से देह और मन की चंचलता दूर कर देती है। इसके समान अवसादक (Sedative) नशा दूसरा नहीं है। पूर्वकाल में इस देश के विद्वान् सांख्य-पतंजल की चिलम का दम लगाकर और अभिभूत होकर सूक्ष्म चैतन्य के सूत से परमात्मा के साथ जीवात्मा का योग करके बैठे रहते थे और जरा भी गोलमाल नहीं करते थे। कोई कोई पाणिनि के कलाप में मस्त होकर दिन रात षत्व-णत्व बकते रहते थे। उनमें जो विशेष रसग्राही थे, वे सदा मुक्तपुच्छ होकर गोपी भाव से प्रेम-रस में शराबोर रहते थे। यद्यपि प्राच्य विद्या-विशारद अध्यापकों में आज-कल सालंकार अभिनन्दन-रचना की ओर कुछ कुछ अरुचि अवश्य दिखाई देती है, किन्तु पाश्चात्य ज्ञान-विद्या की मादकता से जो पोलिटिकल कूद-फाँद, उछल-कूद और चीख-चिल्लाहट मचती है, वह उनमें बिलकुल नहीं है। हम लोगों के अँगरेजी न जाननेवाले बूढ़े दादे परदादे इन सब आफ़त-उत्पातों को नहीं जानते थे। वे लोग हम लोगों से लाख गुना सुखी

थे। हम लोग पाश्चात्य विद्या सीख कर आज अनन्त लांछनाएँ भोग रहे हैं। मेकाले साहब झख मार कर यह विद्या चला गये हैं और अब हम लोग उनकी झखमारी का महसूल भरपाई कर रहे हैं।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि विशेष अर्थ-दण्ड देने पर ही आधुनिक विद्या मिलती है। इस देश के एक नामी जमींदार को अपने मँझले लड़के को अँगरेजी सिखलाने के लिये लाख रुपया खर्च करना पड़ा था। एक गोरे मास्टर ने ही उनसे पचास हजार रुपया वेतन वसूल किया था। उससे विद्या सीख कर कुँवर साहब दो ही एक बरस में अपनी मातृभाषा को बहुत कुछ भूल गये थे। जब विलायत जाकर वे सिविल इंजीनियर हुए और एक मेम से ब्याह कर के देश को लौटे, तब उन्होंने पिता से 'गुड-मार्निंग' करके उन्हें कृतार्थ कर दिया। उस समय बूढ़े बाप की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने बेटे को सिखाने-पढ़ाने के लिये जो कुछ खर्च किया था, वह सब सार्थक समझ लिया। होते होते कुँवर साहब को पाँच लाल लाल बच्चे हुए। जब वे बड़े हुए, तब हिन्दुस्तान को पितृ-भूमि तथा इँगलैण्ड को नानिहाल कहते थे। और जाति पूछने पर कहते थे—"हम हिंदुस्तानी है।" एक बार ये लड़के कुँवर साहब के साथ स्वदेशी सभा में गये थे। वहाँ जब सब लोग 'वंदे मातरम्' कहने लगे, तब ये सब 'हिप् हिप् हुर्रे' कह कर चिल्लाने लगे।

तो भी मैं यह नहीं कह सकता कि आज-कल कम खर्च में विद्या सीखी ही नहीं जा सकती। धाग बाजार के वाक्य-विशारद ने थोड़े ही खर्च में विद्या सीखी थी। लोग कहते हैं, उन्होंने कोड़े खाकर पढ़ा था। लेकिन वे ऊँचे दरजे के स्वजाति-संस्कारक थे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। सभा-सोसाइटियों और समाचार-पत्रों में वे अपनी जोश भरी भाषा में सदा अपने देशवालों के अधःपतन के चित्र खींचते थे। हिन्दुस्तानी कैसे स्वदेश-द्रोही, स्वार्थी और चरित्रहीन हैं, यह वे मेकाले साहब के वचन उद्धृत करके साबित करते थे। वे जानते थे कि साहबों की सभा में यदि कोई वक्ता उनके जातीय चरित्र के दोष दिखाने या निन्दा करने के लिये खड़ा होता है, तो वे लोग उसे हंटर के साथ चला कर खदेड़ते हैं। वे कहा करते थे—"साहबों को धीरज नहीं, लेकिन इस देश के लोगों का धैर्य्य अपार है। इसी कारण मैं उनको वचन-बाण मार कर जगाता हूँ। उनको स्टिम्युलेट (Stimulate) करना ही मेरा मतलब है।" इतने दिन हिन्दुस्तानी लोग वक्ताओं के श्रीमुख से निकली हुई स्वजाति-निन्दा का सुधा-पान करते आते थे, यह बात सही है, लेकिन आजकल उनका धीरज टूटने लगा है। इस कारण इन स्वजाति-संस्कारकों को बड़ी असुविधा हो गई है।

एक दिन एक सभा में पूर्वोक्त वाक्यविशारद महाशय हिन्दुस्तानियों के चरित्र की निन्दा करके श्रोताओं को स्टिम्युलेट (Stimulate) कर रहे थे। उस समय श्रोताओं

में से एक बोल उठा—'देखिये साहब, अब सँभलिये। कहीं आपकी चाबुक की मार से हिन्दुस्तानी लगाम तोड़ कर और दुम उठाकर उन्नति के रास्ते पर सरपट न दौड़ने लगें।' दूसरा बोला—'हिन्दुस्तानी दुबले और निस्तेज घोड़े है। बहुत मारने से लोट जायँगे।' तीसरा बोल उठा—'आप की स्पीच का स्टिम्युलेंट सेवन करने से हम लोगो की नाड़ी छूट गई और सब शरीर ठण्ढा हुआ आता है। अतएव अब आप ठहर जाइये और यह दवा मत दीजिये।' श्रोताओं की इस ढंग की बात-चीत से वाक्यविशारद का वाग्जाल आप ही आप सिमट गया। वे मन ही मन कहने लगे—"अब इस जाति की उन्नति की आशा नहीं।"

कितने लोग कितनी तरह की विद्याएँ सीख कर कितनी तरह से उनका परिचय देते हैं और कैसे कैसे फल पाते है, यह एक मुख से नहीं कहा जा सकता। शंकरप्रसाद के लड़के गणेश-प्रसाद कृषि-कालेज में पढ़ कर डिप्टी हुए है और धान काटने के मुकदमे सुन रहे हैं। जो ऐसे मुकदमो का विचार करने बैठे, उसको खेती-विद्या थोड़ी बहुत जरूर जाननी चाहिए। सच्चिदानन्द प्रसाद के साले इटली जा कर केले की खेती करना सीख आये हैं और इस देश मे उसकी खेती करके खाली खंभा हाथ में पाते हैं। जिस खुली हवा में केले बढ़ कर खूब फल देते हैं, वह इस देश में हुई नहीं। परशुराम उच्च श्रेणी की संगीत-विद्या में पारंगत होकर घर में भिखमंगों के लड़कों को गाने की तालीम

देते हैं; नहीं तो उनके बड़े भाई जगदेव के गाँजे के लिये पैसा नहीं मिलता। महावीरप्रसाद एम० एस-सी० पास करके पचीस रुपए मासिक की नौकरी के उम्मेदवार बने हुए आफिस में चक्कर लगा रहे हैं। किन्तु सब जगह से "No vacancy" और "Not wanted" के सर्टिफिकेट हाथ आ रहे हैं। देवज्ञप्रसाद ज्योतिषी काशीराम में जिन्दगी भर की मेहनत से ज्योतिषी हो कर अब आज कल समाचार-पत्रों में प्रकाशित करने के लिये जर्म्मनी की हार और लार्ड किचनर की कुंडली पर विचार कर रहे हैं। डा० यमुनाप्रसाद एम० बी० मेडिकल कालेज में पढ़ कर बात की बात में धातु की कमजोरी दूर कर देनेवाली गोलियों के विज्ञापन दे रहे हैं; क्योंकि केवल एलोपेथ बन कर बैठने से काम नहीं चलता। बाबू चित्रचरण लाल विलायती औपन्यासिकों की जूठी तश्तरियाँ चाट कर सिद्धहस्त औपन्यासिक बन गये हैं। उन्होंने फ्रांसीसी और अङ्गरेजी उपन्यासों का प्राणायामी पूरक करके जो देशी रेचक किया है, उससे साबित कर दिया है कि चोरी-विद्या सब से बड़ी विद्या है, यदि वह पकड़ी न जाय तो।

ये सब हैं रुपया पैदा करनेवाली विद्या की बातें। इस विद्या के साथ बुद्धि का बड़ा गाढ़ा सम्बन्ध है। दोनों मौसेरी बहनें हैं। इन दोनों में कौन बड़ी है और कौन छोटी, इसका सब जगह निर्णय नहीं किया जा सकता। बहुधा देखा जाता है कि बुद्धि बड़े भाई की तरह आगे आगे दौड़ती है और विद्या

उसके छोटे भाई की तरह पीछे पीछे चलती है। बहुत से चतुर आदमी विद्या की कमी बुद्धि से पूरी कर लेते हैं। एक बड़े आदमी तो अन्धे, लेकिन सब मे जाहिर करना चाहते थे कि हम में समाचार-पत्र पढ़ने की विद्या और दृष्टि-शक्ति है। इसी कारण वे दोनों आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ा कर सामने अखबार रख लिया करते थे। नया आदमी आकर देखता तो उसकी समझ में यह बात नहीं आ सकती थी कि इनमें विद्या नहीं है और ये अन्धे हैं। एक दिन उन्होंने आँखों के आगे उलटा अखबार कर रक्खा था, इससे पकड़े गये और बेवकूफ बने। उनका कहना था कि विद्या से बुद्धि बड़ी है।

साहब लोग माता की कोख से जन्म लेते ही अँगरेजी बोलना आरंभ कर देते है; पर हिन्दुस्तानी उसे पेट के पाले पड़ कर सीखते और उसका व्यवहार करते हैं। इसी लिये अँगरेजी भाषा हिन्दुस्तानियों के मुँह से नहीं, प्राय. नाक से ही बाहर निकलती है। आफिस के बड़े बाबू अपने साहब के सामने नाक से ही बोलते हैं। हिन्दुस्तानी संपादक समाचारपत्र लिखते हैं वैसे ही आनुनासिक स्वर में। हाकिम साहबों के इजलास पर हिन्दुस्तानी वकील, बैरिस्टर सवाल-जवाब भी प्राय: उसी अनुनासिक स्वर में किया करते हैं। लाट साहब की मजलिस में भी हिन्दुस्तनी मेम्बरों का वही सुर होता है।

किन्तु हिन्दुस्तानी भाषा दीना-हीना होने पर भी हिन्दुस्तानियों की मातृभाषा है। इस कारण वह उनके मुँह से देशकाल-पात्र के

अनुसार ज्यादा तेजी से निकलती है। देशी लोग जब अपने जाति-भाई को क्रोध में आकर गाली देते हैं, अंतःपुर में स्त्री के सामने अपनी बहादुरी बघारते हैं, तब देखने में आता है कि उनकी मातृ-भाषा कितनी ओजस्विनी है। इसी से देशी लोग अपने घरों में अँगरेजी को प्रवेश करने देने में राजी नहीं हैं। यहाँ विजातीय लोग विधर्म्मी बालिका विद्यालय खोल कर इस देश की लड़कियों को अँगरेजी सिखला कर सर्वनाश कर रहे हैं। जब समाज के नेताओं ने यह देखा, तब उन लोगों ने इसका उपाय किया और ठौर ठौर गौरी कन्या-पाठशाला, महाकाली पाठशाला, आर्य्य बालिका विद्यालय आदि खोल कर कन्याओं को धर्म्म-शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी।

एक बार एक ऐसी ही पाठशाला में इनाम बाँटने के अवसर पर मैं मौजूद था। उस समय कलकत्ता हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध देशी हाकिम सभापति के आसन पर विराजमान थे। वे खड़े हो-कर बोले—"देशी बालकों को अँगरेजी सिखाने से जो कुफल फला है, वह हम सब लोग जानते हैं। इसी कारण अब हम अपनी कन्याओं को अँगरेजी शिक्षा देकर सर्वनाश करने पर राजी नहीं हैं।" मैं अँगरेजी-नवीस सभापति का उपदेश मुँह बाये हुए अपने उदर देश में उतारता चला जाता था। उसे सुन कर मेरी ज्ञान की आँखें खुल गईं। पुरस्कार वितरण हो चुकने पर मैंने उठ कर सभा-पति को धन्यवाद दिया और कन्याओं को संबोधन करके कहा—

"बेटियो ! तुम लोगो का यह पढ़ना-लिखना केवल ब्याह तक है। शीघ्र ही तुम लोगों का ब्याह हो जायगा, तब तुम पाठशाला में नहीं आ सकोगी। उस समय तुम लोगो को गृह-लक्ष्मी होकर घर के अन्दर रहना होगा और गृहस्थी के सब हिन्दू आचार और नियम पालन करके चलना होगा। तुम लोगों में से किसी के पति अगर व्यवसाय-वाणिज्य या स्वदेश के काम के लिये हिन्दुस्तान से बाहर किसी विजातीय देश मे चले जायँ तो समझना होगा कि उनका धर्म नष्ट हो गया है। तुम लोगों को फिर उनकी सहधर्मिणी नहीं, किन्तु गृहधर्मिणी बन कर घर-द्वार सँभालना होगा। विदेश में पति के निकट जाने से तुम लोगों का भी धर्म नष्ट हो जायगा।

"तुम लोग इस पाठशाला में जिस सुंदरता से नित्य-कर्म की शिक्षा लेती हो, उससे मुझे आशा होती है कि तुम अपने अपने घरों मे सबको पूजा-पाठ और श्राद्ध-तर्पण करा सकोगी। इसके लिये अब गुरु-पुरोहितों की जरूरत नहीं होगी। किन्तु तुम लोगों को इस काम के लिये सिर पर एक एक शिखा रखनी होगी। मैं समझता हूँ, इस पाठशाला की छात्री होकर तुम यह सहज ही कर सकोगी। मस्तक मुँड़ा कर चोटी रख लेने से तुम लोगों की सुन्दरता बढ़ने के सिवा घटेगी नहीं।"

(गोबर-गणेश संहिता)

---

(१)

धर्म

धर्म शब्द बहुत व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश का धर्म के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। धर्म शब्द के अनेकों ने अनेक अर्थ किये हैं और अनेक प्रकार से इस शब्दका मान समझाने का प्रयत्न किया है। पर आज तक इसका अर्थ स्पष्ट न हो सका। इसका ऐसा व्यापक अर्थ आज तक न निकला जिसको ग्रहण कर सारी दुनिया एक-मत हो जाय।

संसार के तमाम बड़े बड़े आत्मज्ञानी धर्म की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। सब लोग एक-मत से स्वीकार करते हैं कि धर्म ही जीवन है, धर्म ही प्राण है, बिना धर्म के मनुष्य मनुष्य नहीं, बिना धर्म के संसार संसार नहीं। इस प्रकार धर्म की उपयोगिता तो सभी बतलाते हैं, पर वह धर्म क्या है, कैसा है, यह कोई नहीं बतला सका। इस स्थान पर आकर सभी अलग अलग हो जाते हैं, एक दूसरे का खण्डन और अपना मण्डन करने लगते हैं। ऐसे ही धर्म शब्द का हम यहाँ विवेचन करना चाहते हैं। इस विषय पर संसार के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसी के आधार पर इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ लिखने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म का मूल कारण क्या है और उसका मुख्य उद्देश्य क्या है? सब से पहले हम इसी विषय पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। अभी तक धर्म शब्द जिन उद्देश्यों से संसार में प्रचलित है, उनमें से दो उद्देश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—(१) मनुष्य-प्रकृति की स्वाधीन-प्रियता और (२) मनुष्य प्रकृति की विषमता तथा उसका सामाजिक जीवन।

(१) मनुष्य स्वभाव से ही स्वतंत्रता-प्रिय प्राणी है। वह अपने प्रत्येक कार्य्य में, प्रत्येक व्यवहार में, पूर्ण स्वाधीनता ही पसन्द करता है। यदि वह कहीं पराधीनता का अनुभव करने लगता है, तो तुरंत उससे छूटने के लिये छटपटाने लगता है। यह प्रवृत्ति मनुष्य के विकसित ज्ञान का परिणाम नहीं है, यह उसकी अविकसित दशा में भी पाई जाती है। संसार में जब उसे दुःख का अनुभव होने लगता है, जब रोग और अस्वस्थता की यंत्रणाएँ उसको सताने लगती हैं, जब अनावृष्टि और अतिवृष्टि का चक्कर उसकी हरी-भरी लहलहाती हुई खेती को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जब मृत्यु तथा बुढ़ापे का दुःख उसे परेशान करने लगता है, तब वह अपने आपको पराधीन अनुभव करने लगता है। वह इस दुःखपूर्ण पराधीनता के साम्राज्य से जाने के लिए आतुर हो उठता है। वह इन तमाम जंजालों से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। बस स्वाधीनता या मुक्ति के इसी सतत प्रयत्न में 'धर्म' की उत्पत्ति होती है। इन दोनों विरुद्ध प्रवृत्तियों का संघर्ष ही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है; और

मनुष्य को पराधीन अवस्था से निकाल कर स्वाधीन अवस्था में ले जाना ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

(२) मनुष्य सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के वह जीवित नहीं रह सकता। जहाँ कहीं वह रहेगा, अपना समाज बना कर रहेगा। पर मनुष्य में इस सामाजिक प्रवृत्ति के साथ ही उसके बिलकुल विपरीत प्रकृतिगत विषमता भी रहती है। एक ओर तो अपनी सामाजिक प्रवृत्ति के कारण वह अकेला नहीं रह सकता, दूसरी ओर प्रकृतिगत विषमता के कारण वह अन्य मनुष्यों के साथ प्रेमपूर्वक नहीं रह सकता। एक ओर तो उसकी सामाजिक प्रवृत्ति उसे साम्य बनाये रखने के लिए प्रेरित करती है, दूसरी ओर उसकी अहंकार प्रवृत्ति अपने थोड़े से हित के लिए दूसरों का भयंकर अनिष्ट कर देने को उकसाती है। एक ओर तो विवेक मनुष्य को मनुष्यों के साथ रहने के लिए प्रेरित करता है, दूसरी ओर स्वार्थ उसे नीचता के गड्ढे में ढकेलता है।

मनुष्य की इन्हीं विपरीत और विरुद्ध प्रकृतियों पर अधिकार रख कर उनमें साम्य बनाये रखने के लिए ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति और अहंकारप्रियता के बीच का विरोध तथा संघर्ष ही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है; और उसकी अहंकार-प्रवृत्ति का नाश करके समाज में सुख, शांति तथा प्रेम का प्रचार करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

ये दोनो उद्देश्य यद्यपि एक दूसरे से भिन्न मालूम होते हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इनका अंतिम ध्येय एक ही मालूम होगा। प्रथम उद्देश्य से जिस धर्म की सृष्टि होती है, उस धर्म का आधार एक अप्रत्यक्ष कल्पना है। यह कल्पना अपनी विकसित और अविकसित दशा में हमेशा अप्रत्यक्ष रहती है। इसी कल्पना में बहुदेववाद, देववाद, साकार ईश्वरवाद और अन्त मे निराकार ब्रह्मवाद की उत्पत्ति होती है। पर सभी स्थितियो मे मनुष्य हमेशा एक अप्रत्यक्ष सत्ता का अनुयायी रहता है।

मनुष्य जाति जब अपनी आदिम अवस्था मे थी, जब उसका ज्ञान बहुत अविकसित दशा में था, तब वह सृष्टि के चमत्कारों का वास्तविक रहस्य नहीं समझ सकती थी। सृष्टि के चमत्कारो को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य्य होता था। यहाँ तक कि उस समय के लोग उनसे चकित और भयभीत होकर उनमे दैवी कल्पना करने लगते थे। इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप हम पानी मे वरुणदेवता की, अग्नि में अग्नि देवता की और वन मे वन-देवता की कल्पना होती हुई देखते हैं। उस समय का जन-समुदाय अपनी पराधीनता का मूल कारण इन्हीं देवताओं को समझता था और उसी पराधीनता से मुक्त होने के लिये वह इन देवताओं को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता था। यही उसका प्रधान धर्म था।

यह धर्म मनुष्य की आदिम अवस्था का है, अतएव इसका अवैज्ञानिक होना बिलकुल स्वाभाविक है। इस धर्म को तर्क का

-देशों में, भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार, ईश्वर की भि
भिन्न कल्पनाएँ हुईं । ज्ञान की कमी के कारण या और किर
कारण कोई अपने ईश्वर पर से देश, काल और परिस्थिति व
छाप नहीं मिटा सका । सभी ईश्वर सर्वज्ञ, सभी सर्वशक्तिमान्
सभी सर्वव्यापक, पर सभी एक दूसरे के विरुद्ध ! सभी सृ
को बनानेवाले और सर्व-शक्ति-सम्पन्न, पर सभी के घर ं
शैतान और पाप का वास । मतलब यह कि ऐसे ईश्वर की कल्पन
में भी मनुष्य-प्रकृति की अपूर्णता स्पष्ट झलकने लगी ।

वैज्ञानिक दृष्टि से बहु-देववाद की अपेक्षा एकेश्वरवाद कुछ अधिक विकसित है । इस धर्म में परलोक और पुनर्जन्म के विज्ञान का उदय हो जाता है, जिसके कारण इस धर्म के अनुयायियों को अपने आप पर लौकिक लक्ष्य का भान होने लग जाता है । बहुदेववादियों पर इस कल्पना का कुछ असर पड़ा है, जिसके परिणाम स्वरूप वे भी पुनर्जन्म की कल्पना को मानने लगे हैं ।

पर सामाजिक दृष्टि से यह धर्म भी बहुत कमजोर है । इस धर्म का आधार एक अप्रत्यक्ष और अगोचर कल्पना है । साधारण मनुष्य-बुद्धि इस रहस्य को समझने में प्रायः असमर्थ रहती है । जाति के कुछ महापुरुष उसका रहस्य प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं । पर आश्चर्य है कि उनका प्रकट किया हुआ रहस्य भी देश, काल और परिस्थिति के बंधनों से कुछ

नहीं होता। देश, काल और परिस्थिति का रंग इस पर इतना गहरा चढ़ जाता है कि उसके आगे धर्म का असली रंग ही लुप्त हो जाता है। यहाँ तक कि भविष्य में उसका वास्तविक रूप बिलकुल नष्ट हो जाता है और यही नकली रंग इस धर्म का प्राण हो जाता है।

नैतिक दृष्टि से भी यह धर्म बहुत ठीक नहीं है। अन्ध श्रद्धा पर अवलंबित होने से यह धर्म मनुष्य की आत्मा के अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में प्रायः वही बात घुस सकती है जिसे तर्क और सत्य का आधार प्राप्त हो। पर इस कल्पना में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। इसी कारण हम देखते हैं कि ईश्वरवाद के अधिकांश उपासकों का ऊपरी जीवन तो अत्यंत आस्तिकता-पूर्ण, पर भीतरी घोर नास्तिकतापूर्ण रहता है। महंतो, पोपों और मौलवियों के गार्हस्थ्य जीवन से हम इसका निश्चय कर सकते हैं। मतलब यह कि नीति और सदाचार का अनुमोदन करते हुए भी यह धर्म अपने अनुयायियों में इन गुणों को नहीं भर सकता। ईश्वर नामधारी एक हौवे का जब तक उन्हें डर रहता है, तब तक तो वे बुरी बातो से डरते रहते हैं। पर जब वे उसकी असलियत समझ जाते हैं, तब घोर नास्तिक और कुकर्मी हो जाते हैं। मतलब यह कि यह धर्म मनुष्य की आत्मा में घर नहीं कर पाता, हाँ बलपूर्वक उसकी आत्मा के साथ वह चिपकाया जरूर जाता है। पर यह चिपकाया हुआ जोड़ भी मजबूत नहीं होता।

बुद्धि तथा स्वार्थ की थोड़ी सी आँच लगते ही चट अलग हो जाता है। पर अलग हो जाने पर भी यह अपना चोला जरूर छोड़ जाता है। यह चोला 'मजहब वाद' है। धर्म के चंगुल से मनुष्य सहज ही छूट जाता है, पर इसके चंगुल से छूटना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है।

बाद को एकेश्वरवाद का विकास दर्शन-प्रणीत 'आध्यात्मिक धर्म' में होता है। यह धर्म उपर्युक्त धर्म से बहुत अधिक विकसित रहता है। धर्म-विज्ञान की दृष्टि से भी यह धर्म बड़ा महत्व-पूर्ण है। इसमें आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि, ईश्वर आदि गंभीर विषयों पर बहुत ऊहापोह किया जाता है। प्रत्येक विषय को अंध श्रद्धा से नहीं, किन्तु तर्क और विज्ञान से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। जो बात तर्क और विज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, वह तुरन्त अस्वीकृत कर दी जाती है, फिर वह वस्तु चाहे ईश्वर ही की क्यों न हो। इस धर्म में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध बुद्धि का उपयोग किया जाता है। परमाणुवाद, आत्मावाद, प्रकृतिवाद, कर्मवाद, अद्वैतवाद आदि इसी धर्म की शाखाएँ हैं।

नैतिक दृष्टि से भी इस धर्म का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रत्येक प्राणी आत्मा है, अतएव हर एक में आत्मभाव रखना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि बातें मनुष्य की आत्मा, शरीर और बुद्धि को शुद्ध करने-वाली हैं, इसलिये इनका पालन करना चाहिए, इत्यादि नीति-

मूलात्मक सिद्धान्त इस धर्म में रक्खे गये हैं। इस प्रकार नीति और बुद्धिवाद का उपासक होने के कारण इसमें 'मजहब-वाद' और अन्ध श्रद्धा से उत्पन्न होनेवाले अत्याचार नहीं घटित होते।

सामाजिक दृष्टि से भी यह धर्म कम महत्व-पूर्ण नहीं है। सामाजिक सदाचार और बंधुत्व के सिद्धान्तो का इसमें बहुत उपयोग किया गया है।

इतना सब कुछ होने पर भी इस धर्म में व्यावहारिक दृष्टि से एक भारी त्रुटि पाई जाती है। वह यह कि यह धर्म संसार के चुने हुए मुट्ठी भर विद्वानो का धर्म हो सकता है, साधारण जन-समाज का नहीं। इस भयंकर व्यावहारिक त्रुटि ने ही आज तक इस धर्म को व्यापक नहीं होने दिया। इस धर्म के तत्व इतने गूढ, गंभीर और कठिन होते हैं कि साधारण जन की बुद्धि इसे ग्रहण ही नहीं कर सकती। दूसरी एक और त्रुटि इस धर्म मे यह है कि यह अभी तक अपूर्ण है। बड़े बड़े दार्शनिकों ने इसके तत्व को समझने का प्रयत्न किया, पर इन तत्त्वो का कोई निश्चित और सत्य स्वरूप अभी तक निर्द्धारित नहीं हो सका। दर्शन-शास्त्र के मुख्य विषयों का, जैसे आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि, ईश्वर आदि का एक निश्चित और सर्व-मान्य सिद्धांत अभी तक कोई नहीं निकाल सका। सभी लोग एक कल्पित और अप्रत्यक्ष वस्तु के पीछे दौड़ने को कहते हैं, पर उस अप्रत्यक्ष मे अंधकार के सिवा प्रकाश को

एक रेखा भी नहीं दिखलाई देती। दार्शनिक धर्मों में अद्वैत-वेदान्त सब से अधिक विकसित धर्म माना जाता है और सचमुच उसके सिद्धान्त हैं भी गंभीर और विचार-पूर्ण, पर वे भी अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सके हैं। क्योंकि वेदान्त भी प्रत्यक्ष के पीछे नहीं, एक सुन्दर कल्पना के पीछे दौड़ रहा है। एक लेखक का यह कथन बिलकुल सत्य है—"वेदान्त एक ऐसी सुंदर कल्पना है जिसमें तल्लीन हो जाने में ही मजा है।"

मतलब यह कि दर्शन-शास्त्र-प्रणीत आध्यात्मिक धर्म अधिक वैज्ञानिक, अधिक नैतिक और अधिक सामाजिक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से बहुत अपूर्ण है। यह धर्म मुट्ठी भर विद्वानों का धर्म हो सकता है, पर विश्वव्यापी धर्म होने के गुण इसमें नहीं हैं।

सर्वव्यापी होनेवाले धर्म के अन्तर्गत कई विशिष्ट गुणों की आवश्यकता होती है। ऐसे धर्म की नींव किसी अप्रत्यक्ष वस्तु पर नहीं, एक प्रत्यक्ष सिद्धान्त पर होनी चाहिए। यह धर्म श्रेय और प्रेय गुणों से युक्त तथा शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध बुद्धि से ओत-प्रोत होना चाहिए। यह धर्म मनुष्य-प्रकृति से अनुमोदित और मनुष्य की सद्वृत्तियों का विकास करनेवाला होना चाहिए।

धर्म की उपर्युक्त त्रुटियों को देखकर संसार के समस्त धर्माचार्यों, समाज-शास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने धर्म का एक सुंदर

तत्त्व ढूँढने का प्रयत्न किया। इन सब लोगों के प्रयत्नों का सम्मिलित निष्कर्ष यह निकला कि धर्म का पहला उद्देश्य सामाजिक होना चाहिए और दूसरा व्यक्तिगत। इस धर्म का मुख्य लक्ष्य प्रामाणिकता होना चाहिए। एक अप्रत्यक्ष और अगोचर कल्पना के पीछे जो धर्म चलता है, वह उतना प्रामाणिक नहीं हो सकता; अतएव इस धर्म का प्रधान लक्ष्य 'सदाचार' रक्खा गया और इस धर्म का मुख्य देवता 'मनुष्य' समझा गया। बंधुत्व, प्रेम, दया, मनुष्यत्व आदि इस धर्म के मुख्य सिद्धान्त रक्खे गये। इसको स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध तत्ववेत्ता कान्ट ने निर्धारित किया है। उसने कई प्रकार के प्रमाणों से ईश्वर आदि वस्तुओं को कल्पित और सदाचार तथा मनुष्य प्राणी को ही सत्य और उपास्य बतलाने का प्रयत्न किया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म का यह स्वरूप बड़ा ही विकसित और उच्च कोटि का है। पर इसमें भी एक बड़ा भारी दोष है, जिसके कारण मनुष्य समुदाय में यह धर्म अभी तक प्रचलित न हो सका। बात यह है कि 'सदाचार' को सारी दुनिया मानती है, पर 'सदाचार' क्या वस्तु है, यह बात वह नहीं जानती। जाने भी कैसे? सदाचार का एक निश्चित स्वरूप तो आज तक दुनिया मे निश्चित ही नहीं हुआ। युरोप का सदाचार भारत में आकर दुराचार हो जाता है, हिन्दुओं का सदाचार मुसलमानो में जाकर दुराचार बन जाता है। ऐसी दशा में सदाचार क्या वस्तु है, यह निश्चित करना बहुत कठिन हो

जाता है। अभी तक सदाचार का जो स्वरूप चला आ रहा है
वह आपेक्षिक है या देश, काल और परिस्थिति के
से आबद्ध है। यही कारण है कि इस धर्म का प्र
बहुत ही कम हो सका और इसके सिद्धान्त दर्शन शा
किताबों तक ही मर्यादित रहे।

- इन सब धर्मों की कमजोरियों को देखकर संसार में ए
नवीन धर्म की सृष्टि हुई। इस धर्म को हम "विज्ञान धर्म"
सकते हैं। जब से युरोप में नवीन ढंग की वैज्ञानिक खोज का
आरम्भ हुआ, तभी से इस धर्म की सृष्टि हुई। वैज्ञानिकों ने बुद्धि-
वाद की कसौटी पर सब धर्मों की जाँच करना आरम्भ किया। अन्त
में यही निष्कर्ष निकला कि उनमें सत्य का बहुत कम अंश है; और
जो थोड़ा बहुत सत्य का अंश है भी, वह हठवाद के कारण असत्य
हो गया है। मनुष्य का ज्ञान अगाध है। उससे परे कोई वस्तु नहीं।
जो लोग मनुष्य के ज्ञान से परे कोई वस्तु समझते हैं, वे भ्रम में हैं।

ईश्वर या दैव नामधारी कोई बाहरी शक्ति न कहीं से
आती है, न कुछ कर सकती है। इन लोगों ने कहा कि ईश्वर,
आत्मा, पुनर्जन्म आदि सब बातें झूठी हैं। रज और वीर्य के
मिलने से उनमें कुछ ऐसी रासायनिक क्रिया होती है जिससे
कलल-रस (प्रोटोप्लाज्म) तैयार होता है और उसी से मनुष्य-
देह बनती है। इन लोगों के पास तर्क था, ज्ञान था, प्रत्यक्ष
प्रमाण का बल था, अतएव इन लोगों के सम्मुख पुराने अज्ञेय-

वादियों का टिकना बहुत कठिन था। इन्होंने रेल, तार, वायुयान आदि भिन्न भिन्न प्रकार के आश्चर्य-जनक आविष्कारों के द्वारा संसार में विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस समय संसार में विचार-स्वातन्त्र्य और बुद्धि-विकास के जो दृश्य दिखाई दे रहे हैं, वे इन्हीं लोगों की कृपा के फल हैं। संसार मे, विशेषकर युरोप में, अज्ञान का नाश कर ज्ञान-सूर्य को प्रकाशित कर देना इन्हीं लोगों का काम है।

इस वैज्ञानिक धर्म की गति और भी तेज हो जाती, पर खास मौके पर आकर यह भी रुक गया। जिस स्थान पर जाकर बड़े बड़े दार्शनिक रुके थे, वहाँ पहुँच कर इसके प्रवर्तकों की भी बुद्धि चकरा गई। कलल-रस तैयार कर लिया, पञ्चभूत तैयार कर लिये, कह दिया कि चार प्रकार के वायुओं का संयोग होने से मनुष्य मे जीवन-शक्ति उत्पन्न होती है, पर वह संयोग कैसा होना चाहिए और जीवन-शक्ति कैसे उत्पन्न होती है, इस बात का स्पष्टीकरण वे किसी प्रकार न कर सके। लोग घबरा कर थक गये, पर इस शक्ति का पता किसी को न लगा। अन्त में कुछ लोगों ने लाचार होकर स्वीकृत किया कि इस भौतिक देह से परे भी मनुष्य के अन्दर एक ऐसी वस्तु है जो सचेतन, गति-विधि-शील और मनुष्य बुद्धि से परे है। इस वस्तु को उत्पन्न करना विज्ञान के लिए भी असाध्य है। ऐसे कुछ लोगों में सर ओलिवर लाज, जर्मन तत्त्ववेत्ता कोम्ट और तत्त्ववेत्ता ग्यूटे आदि प्रधान हैं।

विज्ञान की दृष्टि से यह धर्म सब से अधिक महत्वपूर्ण है। दुनिया के सभी धर्म प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि अनेक प्रमाणों को मानते हैं। पर यह धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही अवलम्बित है। अनुमान वही माना जाता है जिसका समर्थन 'प्रत्यक्ष करता हो। कई लोगों के मान लेने पर भी बहुत से वैज्ञानिक ऐसे हैं जो आत्मा को अभी तक केवल एक रासायनिक क्रिया ही मानते हैं। इस धर्म का अन्तिम उद्देश्य सांसारिक ही है। इसके समर्थक समस्त आध्यात्मिक बातों को सांसारिक रूप में परिवर्तित कर देना चाहते हैं। आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि आदि सभी आध्यात्मिक बातों को यह धर्म विज्ञान के द्वारा सिद्ध करना चाहता है।

नैतिक दृष्टि से भी यह धर्म बड़ा उच्च है। पर इसकी नीति किसी पाप और पुण्य या स्वर्ग और नरक पर निर्भर नहीं रहती। इसकी नीति मनुष्य के स्वास्थ्य और समाज की शान्ति पर निर्भर रहती है। इस धर्म के अंतर्गत व्यभिचार इसलिए बुरा नहीं समझा जाता कि वह पाप है, बल्कि इसलिए बुरा समझा जाता है कि वह मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट करता है और उससे सामाजिक शान्ति में विघ्न पड़ता है। इसी प्रकार और और बातों के सम्बन्ध में भी है।

व्यक्तिगत सदाचार की दृष्टि से यह धर्म कुछ कमजोर है। इस धर्म से समाज में व्यापक नास्तिकता का प्रचार हो जाता है। अनात्मवादिता के कारण सर्वभूतदया और सत्य आदि श्रेष्ठ बातों का

समष्टिगत लोप होने लगता है, जिससे नैतिक बन्धन भी कुछ ढीले हो जाते हैं।

मतलब यह कि यह धर्म अधिक प्रामाणिक और वैज्ञानिक होने पर भी बिलकुल निर्दोष नहीं है। इसके अन्तर्गत भी कुछ ऐसे दोष हैं जो समाज की उन्नति में बाधक हैं।

इन सब धर्मों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है कि इनमें से एक भी धर्म अभी तक पूर्णता पर नहीं पहुँच सका है। जिस उद्देश्य को सम्मुख रख कर धर्म की सृष्टि हुई थी, उस उद्देश्य पर आज तक संसार का कोई धर्म नहीं पहुँच सका। बल्कि यदि यह कहा जाय कि प्रचलित धर्म मनुष्य जाति की उन्नति में साधक न हो कर बाधक ही हुए है, तो भी अत्युक्ति न होगी।

धर्म के इस विकृत स्वरूप को देख कर संसार के बड़े बड़े विचारवान् चिन्तित हुए। कोई कोई तो विकृत और अपूर्ण धर्म से होनेवाली दुर्गति को देख कर इतने उत्तेजित हो गए कि वे धर्म शब्द तक के विरोधी हो गये, उन्होंने धर्म के अस्तित्व को दुनिया से मिटा डालना चाहा। पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। धर्म का अस्तित्व न तो दुनिया से मिट ही सकता है और न उसके मिटने की आवश्यकता ही है। अब तक के प्रचलित धर्मों का—बहुदेववाद से लेकर विज्ञानवाद तक—गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से मालूम होता है कि इन सब में एक बहुत बड़ा दोष है। इसी एक दोष के कारण ये सर्वव्यापी नहीं हो सके। वह दोष

यह है कि ये सब धर्म मनुष्य के लिए एक प्रकार के बन्धन हो जाते हैं, जिससे इनका फल बिलकुल विपरीत होता है। उद्देश्य तो इनका मनुष्य-मात्र को सब तरह के बन्धनों से मुक्त कर देना होता है, पर उलटे इनके कारण एक और नवीन बन्धन अस्तित्व में आ जाता है। गार्हस्थ्य-बन्धन, कुटुम्ब-बन्धन, संसार-बन्धन आदि अनेक बंधनों के साथ साथ धर्म का भी एक बन्धन हो जाता है।

वास्तव में धर्म का रूप ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा के अनुकूल हो, जो मनुष्य की वृत्तियों के विकास में सहायक हो, न कि बाधक। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है। वह यह कि मनुष्य की प्रवृत्ति में तो पाप का भी उदय होता है, क्या वह पाप भी धर्म समझ लिया जाय? क्या उसके उदय में भी बाधा न डाली जाय? उत्तर में हम कह सकते हैं कि धर्म का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिए, पाप और पुण्य नहीं। मनुष्य-प्रकृति स्वभावतः ही आनन्दमय है और धर्म आनन्द से विरुद्ध या भिन्न नहीं है। मनुष्य-प्रकृति के अन्तर्गत जो विकार या दोष नजर आते हैं, वे कुसंस्कारगत हैं, न कि स्वाभाविक। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि इन विकारों का फल भोगते समय मनुष्य दुःखी होता है और वह दुःख से घबराता है।

यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य-प्रकृति 'सत्' 'रज' और 'तम' का मिश्रण है। उसके 'तम' का नाश कैसे हो सकता

है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि चाहे मनुष्य-प्रकृति में तीनों का मिश्रण हो, पर उसकी स्वाभाविक गति तम से सत् की ओर है; क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही आनन्द का उपासक है; और यथार्थ आनन्द वहीं रहता है जहाँ सत् है। ऐसी स्थिति में भी धर्म को मनुष्य की स्वाभाविक गति का ही सहायक होना पड़ेगा। उसकी गति भी मनुष्य-प्रकृति की गति के अनुसार ही तम से सत् की ओर होनी चाहिए। इससे हमारे इस सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आ सकती कि धर्म का स्वरूप मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा-शक्ति के अनुकूल होना चाहिए।

मतलब यह कि मनुष्य स्वभाव से आनन्द का उपासक है। आनन्द की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। और आनन्द तो सत्य का ही स्वरूप है। जहाँ सत्य है, वहाँ आनन्द है और जहाँ आनन्द है, वहाँ सत्य है। आनन्द-प्राप्ति के मार्ग में बाधक होनेवाली जो प्रवृत्तियाँ हैं (जैसे—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) वे सब अस्वाभाविक, अतएव असत्य हैं। ये सब प्रवृत्तियाँ कुसंस्कारों के सहवास के कारण ही मनुष्य-प्रकृति पर आवरण रूप से पड़ी हुई हैं। इन सब को हटा कर आनन्द-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होना ही धर्म है। इस आनन्द-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होनेवाली बात चाहे हिन्दू धर्म में हो, चाहे मुसलमान-धर्म में हो, चाहे ईसाई-धर्म में हो, सब जगह सत्य है। वह यदि परमाणुवाद में है तो भी सत्य है; विज्ञान में है तो भी सत्य है; कुरान में है तो भी सत्य है; पुराण में है तो

भी सत्य है। इसके विरुद्ध जो बात इस आनन्द प्राप्ति के मार्ग में बाधक है, जो समाज में विश्रृंखलता और मनुष्य-प्रकृति में विकृति उत्पन्न करती है, वह सब असत्य है। 'मज़हबवाद' इस आनन्द प्राप्ति के मार्ग में, मनुष्य जाति की उन्नति में, सबसे बड़ा बाधक है। इसके कारण मनुष्य की आँखों पर मोह-जाल का चश्मा लग जाता है, जिसके फल-स्वरूप वह सत्य और आनन्द की परीक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। वह अन्धे की तरह अन्ध श्रद्धा का अनुयायी हो जाता है। सङ्कीर्णता के चक्र में फँस कर वह सत्य को स्वाधिकृत कर लेना चाहता है।

इसी से मनुष्य अस्वाभाविकता तथा सत्य और आनन्द का शत्रु हो जाता है। इसी कारण विशाल मनुष्य-समुदाय छोटी छोटी जातियों में विभक्त हो जाता है। इसी कारण भाई भाई का गला काटने को तैयार हो जाता है—मनुष्य मनुष्य पर तलवार चलाने को उतारू हो जाता है। मतलब यह कि मज़हब वाद मानवीय प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध और अस्वाभाविक है। इसी को आज तक धर्म समझ बैठने के कारण मनुष्य जाति इतनी दुखित और संसार इतना अशान्तिमय हो रहा है।

चन्द्रराज भण्डारी।

बुंदेलखंड-पर्यटन

कवि-कुल-कमल-दिवाकर महात्मा सूरदास जी ने सत्य कहा है—"सबै दिन जात न एक समान"। निःसन्देह यह वाक्य ऐसा सारगर्भित है कि इसे जितना ही सोचिए, उतना ही यह गूढ़ प्रतीत होता है। बुँदेलखंड में पर्य्यटन करता हुआ जब मैं झाँसी में पहुँचा और वहाँ के दुर्गम दुर्ग, कोट तथा महारानी लक्ष्मी बाई के राजभवन पर मेरी दृष्टि पड़ी, नगर के हिन्दुओं के प्राचीन नगरों के ढंग के हाट, बाट, मंदिर मैंने देखे, तब अनायास एरियन, फाहियान, हुएनचांग आदि विदेशियों द्वारा लिखित और प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित भारतवर्षीय नगरों का चित्र आँखों के सम्मुख आ खड़ा हुआ और भारतवर्ष की उस सुख की दशा को वर्तमान दीन दशा से मिलाने पर चित्त विकल हो उठा। महात्मा सूरदास ने मेरा प्रबोध किया, और 'सबै दिन जात न एक समान' को स्मरण कर जगत को परिवर्तनशील जान चित्त ने धैर्य्य धारण किया। कई दिन तक मैं झाँसी नगर के प्राचीन चिह्नों का अनुसंधान करता रहा। इसी अवसर पर एक दिन मैं नगर के कोट के एक द्वार से निकला जो "ओड़छा द्वार" के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वार को देखते ही मुझे अकस्मात् कवि-

कुल शिरोमणि सूरदास जी के सहयोगी, साहित्य-गगन के शोभा-वर्द्धक नक्षत्र कवीन्द्र केशवदास जी के, तथा उनके प्रतिपालक और प्रचंड मुगल सम्राट् कुटिल-नीत्यवलंबी अकबर के दर्प-दमनकारी बुंदेलवंशावतंस वीर-शिरोमणि महाराज वीरसिंह देव जी के अलौकिक चरित्रों की रंगभूमि का स्मरण हो आया। सब ओर से हटकर चित्त उसी ओर आकर्षित हो गया। यद्यपि मुझे कई आवश्यक कार्य्यों के कारण झाँसी से बाहर जाने का अवकाश न था, परन्तु "मन हठ पर्‌यो न सुनहि सिखावा" की दशा हुई। सब काम छोड़कर सब के बरजने पर भी मैं गाड़ी मँगा दूसरे दिन प्रातः काल इन प्रातःस्मरणीय महानुभावों की जन्मभूमि देखने को चल दिया। ओड़छा झाँसी से आठ मील के अंतर पर है, मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। पार्वतीय मार्ग होने से बहुधा मार्ग ऊँचा नीचा है जो मुझे संसार की संपत्ति-विपत्ति का ठौर ठौर पर स्मरण दिलाता था।

भारतवर्षीय इतिहास में जब से यवनगण के संकटमय चरणों के देश में पड़ने का वर्णन पाया जाता है, तब से इस देश के दो प्रांतों के राजपूत वीरों को हम विशेषतः रणक्षेत्र में ही पाते हैं, एक तो राजपूताने के, दूसरे बुंदेलखंड के। आज का हमारा आलोच्य विषय बुँदेलखंड का एक नगर है, इसलिये राजपूताने का वर्णन न कर हम बुँदेले राजपूतों के वंश का कुछ संक्षेप सा वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

विंध्याचल की नाना शाखाएँ इस देश के भीतर प्रविष्ट हैं; अतः यह पार्वतीय देश उसी संबंध से विंध्यखंड, विंध्येलखंड अथवा विंध्येलखंड कहलाया; और कालांतर में इस शब्द का अपभ्रंश हो देश बुँदेलखंड कहलाने लगा।

यों तो कवि-कुल-गुरु महर्षि वाल्मीकि जी की रामायण में इसके चित्रकूट आदि स्थानों का वर्णन मिलता है, परंतु महाभारत में चेदि (चँदेरी) के राजा के प्रसंग से इस देश का सविस्तर उल्लेख पाया जाता है। युगांतर का इतिहास होने से हमें यहाँ उसके वर्णन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और हम कवि चन्द लिखित महोबा खंड के साक्ष्य पर चंदेल वंश का, जिसकी प्रथम राजधानी कालिंजर का दुर्गम दुर्ग अद्यापि उनके प्रतापशाली होने की सुध दिलाता है, और द्वितीय राजधानी खजूरपुर के अद्वितीय प्राचीन मठ, मंदिर, तड़ागादि अब तक उसके महत्व के सूचक छत्रपुर राज्यांतर्गत खड़े हैं, और तृतीय राजधानी महोबा के प्रबल वीर आल्हा, ऊदल, मलखान आदि ने एक बार समस्त भारत में चंदेल वंश की विजय का डंका पीट दिल्लीश्वर पृथ्वीराज तक को थर्रा दिया था और वे अपने आश्चर्यजनक विशाल चिह्न अब तक महोबे के सन्निकट के स्थानों में छोड़ गए हैं, सविस्तर वर्णन करने का अलग संकल्प कर चुके हैं, इसलिए यहाँ पर केवल इतना ही लिखते हैं कि इस प्रचंड वंश के भाग्य का सूर्य भी सन् ११९७ ई० के लगभग दिल्लीश्वर पृथ्वीराज के भाग्य-भानु

के साथ ही साथ, यवन दीप के प्रज्वलित होने के समय, अस्ताचल को प्रस्थान कर गया और तदुपरांत वीर बुंदेलवंशीय राजपूतों के शासन का इस देश में प्रादुर्भाव हुआ। जब चंदेल-चंद्र के वियोग में *बुंदेल-भू-कुमुदिनी यवन भाग्यभास्कर को देख मुरझा रही थी,* तब इस देश का शृंखलाबद्ध राज्य नष्टप्राय हो गया था और गाँव गाँव के निराले ठाकुर होते जाते थे। उसी समय शाकंभरी नरेश पृथ्वीराज को छल से मारनेवाले क्रूर शहाबुद्दीन गोरी के सेनानायक, पृथ्वीराज के अधिकृत देशों मे फैल गए। जिस लोरक खत्री ने आर्य वंश की अहित चिंता कर कई बार शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज के बंधन से छुड़ा और अंत में पृथ्वीराज की वैसी ही दशा में सहायता न कर, शहाबुद्दीन के हाथ से उसका शिरच्छेद होने दिया, और इस प्रकार स्वजातिघात का पाप अपने सिर पर लिया, उसी की सन्तान यवन-शासन होते ही महोबे की ओर आई और राज्य की सीमा पर जालौन प्रांत के कोंच परगने के मुहौनी ग्राम में अपने राज्य की राजधानी नियत कर रहने लगी।

लोरक की संतान की भी यही दशा हुई। भारतवर्ष के जलवायु ने उन्हें यहाँ के पवित्र गुणों से अलंकृत कर दिया। उनके हृदय में सदाचार, सद्व्यवहार, बन्धुभाव, सुशीलता और सुजनता का संचार हो गया। मुहौनी गद्दी के एक वृद्ध महाराज निस्संतान थे। उनके जीवन काल की संध्या होने ही को थी कि इतने में काशी के प्रसिद्ध गहरवार-वंश-भूषण

राजा कर्ण किसी कारण अपने पूर्वजों की राजगद्दी काशी छोड़ मुहौनी आए। निस्संतान राज्याधीश ने बड़े प्रेम से उनका सत्कार किया और उनको अपना अतिथि बनाया। कुछ कालोपरांत दोनों में घनिष्ठ प्रेम हो गया और मुहौनीराज महाराज कर्ण के गुणों पर ऐसे मोहित हो गये कि अपना समस्त राज्य आगन्तुक को सौंप आप सुरपुर सिधारे। यही राजा कर्ण बुंदेल वंश के मूल पुरुष हैं। राजा कर्ण और उनके पुत्र अर्जुनपाल मुहौनी में ही राज्य करते रहे और अपने राज्य का विस्तार करते गए; परन्तु अर्जुनपाल जी के पुत्र राजा सहनपाल ने प्रबल खंगारजात को परास्त र और उनकी राजधानी गढ़ कुंडार को विजय कर मुहौनी से जधानी हटा गढ़ कुंडार को अपनी राजधानी बनाया। राजा हनपाल, राजा सहजइंद्र, राजा नौनिध, राजा पृथु, राजा सूर, जा रामचंद्र, राजा मेदिनीमल, राजा अर्जुन, राजा रायअनूप, जा मलखान और राजा प्रतापरुद्र तक यहाँ राज्य करते रहे; रन्तु महाराज रणरुद्र ने गढ़ कुंडार से राजधानी हटा एक सिद्ध ती के आज्ञानुसार वेत्रवती के तट पर ओड़छा बसाया। यही ओड़छा नगर आज हमारा आलोच्य विषय है।

ओड़छा नगर के चतुर्दिक् पर्वतों के छोटे छोटे शृङ्ग फैले हुए हैं। इन पर पलाश, खैर, बरगद और पीपल के वन खड़े हैं। इन्हीं के बीच बीच में कहीं शिव-मंदिर, कहीं गिरे पड़े कोट, कहीं तेनदरी देखने में आती है। इन वनों में जंतु भी बहुतायत से रहते

हैं। पर्वतों के बीच बीच में बड़े बड़े नाले हैं जो जड़ी-बूटियों से भरे पड़े हैं। निर्मल वेत्रवती पर्वतों को विदार कर बहती हुई पत्थरों की चट्टानों से समभूमि पर, जो पथरीली है, गिरती है। नदी के तल में नाना रंग के पत्थरों के छोटे छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है। नदी के उभय तटों पर ऊँची पथरीली भूमि है। इसी पर पुराना नगर बसा था जिसके खँडहर अद्यापि कई मील तक विस्तृत हैं। नदी के दोनों तटों पर देवालयों की पाँतें, कूप, बावली और राजाओं की समाधियों पर के मंदिर दिखाई पड़ते हैं। जब वेत्रवती ओड़छा के मध्य में पहुँचती है, तब वह दो धाराओं में विभक्त हो जाती है और मील भर के लगभग लंबा एक अंडाकार टापू बीच में रह जाता है। नगर के चतुर्दिक् पहाड़ी पत्थरों से कोट बनाया गया था और बड़े बड़े ऊँचे फाटक छोड़ दिए गए थे। इनके दोनो ओर सघन वृक्ष जम आए हैं जिनकी जड़ों में फँस कर यह ऐसी हो गई है कि हिलाए नहीं हिल सकती और इसी कारण स्वाभाविक पर्वत-श्रेणी सी प्रतीत होती है। इस उजड़ी दशा में भी यह स्थान रम्य जान पड़ता है, मानो मनुष्यों के अभाव में स्वयं प्रकृति देवी यहाँ पथिकों का सत्कार करती हैं। इसी रम्य भूमि पर महाराज रणरुद्र जी ने ओड़छा बसाया था।

राजा रणरुद्र की गुण-ग्राहकता से सैकड़ों गुणी, पंडित,

विद्वान, नीतिज्ञ, ओड़छे में आए। सबका राज-दरबार से सत्कार होने लगा। महाराज रणरुद्र के पश्चात् महाराज भारतचंद्र और तब हरिचंद्र राजा हुए। इन सपूतों ने अपने पूर्वजों के राज्य को और भी बढ़ाया। कृतघ्न शेर शाह सूर ने पूर्व उपकारों को भूल महाराज हरिचंद्र पर आक्रमण किया; परन्तु अन्त में कायर इनके कृपाण का लेख अपनी पीठ पर लिखा रक्तप्लावित और आहत होकर रण से भाग गया। ओड़छे का चतुर्भुज जी का विशाल मंदिर इन्हीं महाराज का कीर्तिस्तम्भ है। यह स्वर्ण कलशमय मंदिर तीन शिखरों में है। एक तो पर्वत के समान ऊँची बैठक पर यह मंदिर बनवाया गया है, दूसरे मंदिर की ऊँचाई भी एक पहाड़ के समान ही है। सभा-मंडप में वायु तथा उजाले के लिये द्वार कटे हैं और एक छोर पर चतुर्भुज जी की मूर्ति स्थापित है। यह मंदिर एक छोटे किले के समान है और ऐसा दृढ़ है कि कदाचित् तोपों की मार भी सरलता से सहन कर ले। भूलभुलैयाँ की भाँति इसकी छत पर द्वार कटे हैं। अपने ढंग का यह मंदिर ऐसा अनूठा है कि कदाचित् बुंदेलखंड में कोई ऐसा दूसरा मंदिर न निकले। परंतु कुछ कारणों से यह मंदिर अपूर्ण सा रहा और महाराज स्वर्गयात्रा कर गए। राज-सिंहासन पर यशस्वी महाराज मधुकर साह आसीन हुए। मुगल वंश का भाग्य इस समय पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चमचमा रहा था। क्षुद्र स्वार्थी लोभीजन दिल्लीश्वर की तुलना "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कह

कर परमेश्वर से करने लगे थे; और अपनी कुटिल नीति से अकबर भारतवर्ष के हिन्दू राजा मात्र से अपना सम्बन्ध जोड़ उन्हें धोखा दे मुसलमान बनाने का प्रबन्ध कर रहा था कि इतने में महाराज मधुकर साह का अर्कोदय हो उठा। उनकी विमल कीर्ति मुगल सम्राट् के हृदय में खटकने लगी। तब दुराग्रही मुगल सम्राट् ने ईर्ष्यावश इन्हें भी राजपूताने के कुछ राजपूत वंशों के समान अपनी दासत्व-शृंखला में बाँधने के नाना उपाय रचे, परंतु यहाँ तो "भूख मरै दिन सात लौं सिंह घास नहिं खाय" वाली दशा थी। अकबर ने सब प्रयोगों के निष्फल होने पर अपने पुत्र मुराद को बलाध्यक्ष कर इन पर सेना संधान किया। परंतु वह सेना महाराज के कृपाण की प्रज्वलित दीप-ज्योति की पतंग हुई। मुराद रण से भाग गया और अंत में अकबर ने हार मानकर इनसे संधि कर ली। कवि केशवदास जी के पितामह कृष्णदत्त जी मिश्र, जो प्रख्यात प्रबो चंद्रोदय नामक रूपक के रचयिता हैं, इन्हीं महाराज के राजपंडित थे

इनका और अकबर का यहाँ तक घनिष्ट संबंध बढ़ता गया और अकबर इनका यहाँ तक कृपाकांक्षी रहा कि उसने इन पुत्र महाराज रत्नसेन के सिर पर अपने हाथ से पगड़ी बाँध और इनके ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामशाह की सहायता ले दक्षि विजय किया। महाराज के स्वर्गवासी होने पर वीर केश महाराज वीरसिंहजू देव राज्यधिकारी हुए। औदार्य, निष्कपट और शौर्य इन्हीं के बाँटे आया था। अकबर के आचरणो

से इन्हें स्वाभाविक घृणा थी। ये ऐसा अवसर ढूँढ़ा ही करते थे कि अकबर किसी प्रकार इनसे रण रोपे और यह अपने हाथ से दर्प दमन करें। होते होते ऐसा अवसर आ ही पड़ा। युवराज सलीम और उसके पिता अकबर में परस्पर वैमनस्य रहा करता था, क्योंकि अकबर तो अपने मंत्रियों के पैरों चलता था, विशेषतः अब्बुल फजल के। अब्बुल फजल यह चाहता था कि अकबर के पश्चात् किसी ऐसे को बादशाह बनाऊँ जो मेरे हाथ की कठपुतली हो। पर सलीम अपने पैरों चलनेवाला था, इसी कारण वह अब्बुल फज्ल को खटकता था। अब्दुल फज्ल फूट डालकर अकबर को सलीम से लड़ाता रहता था। सलीम अपना पक्ष पिता की दृष्टि में निर्बल पाकर किसी बड़े तथा बलवान् का आश्रय ढूँढ़ने लगा। अंत में उसकी दृष्टि में वीर महाराज वीरसिंह देव ही "निर्बल के बल राम" दिखाई पड़े। सलीम आकर उनका अतिथि हुआ और उनसे अपना सब वृत्तान्त कहा। महाराज ने उसे सहायता देने का संकल्प किया। जब गोलकुंडे से अब्दुल फजल लौटकर आगरे जा रहा था, तब ग्वालियर के निकट ऑतरी की घाटी में इन्होंने उससे रण रोपा और अपने हाथ से अकबर के प्यारे मंत्री का सिर काट सलीम के पास भेज दिया और इस प्रकार अकबर को युद्ध के लिये उत्तेजित किया। परंतु अकबर इतने पर भी इनके सम्मुख रण रोपने का साहस न कर सका। अंत में वह अपने बुढ़ापे के दो वर्षों को

काट मर गया। ओड़छे का राज्य तथा बुंदेल कुल के भाग्य का भानु इस समय पूर्ण उन्नति पर था। महाराज वीरसिंह देव को महाराज इंद्रजित सिंह से सहोदर मिले थे, जिनका चातुर्य्य संसार भर में प्रकट था। महाराज को सामंत विक्रमसिंह और अर्जुनसिंह ऐसे स्वामिभक्त कर्मचारी और रामचंद्रिका, कविप्रिया, विज्ञान गीता ऐसे ग्रंथों के रचयिता कवींद्र केशवदास से कवि मिले थे। ओड़छाधीश की जय देश-देशान्तर में बोली जाती थी।

ऐसी उन्नति के दिनों में, हम आपको एक वार फिर उस टापू पर, जो तुंगारण्य से आगे वेत्रवती की दो धाराओं के बीच में है, ले जाना चाहते हैं। यह टापू रघुनाथ जी के मंदिर के द्वार के सामने ठीक सीध में पड़ता है। चतुर्भुज जी के मंदिर के सभामंडप में खड़े हो जाइए, इस टापू की एक एक अंगुल भूमि दिखाई पड़ेगी। जन-रव है कि एक वार महाराज वीरसिंह देव चतुर्भुज जी के मंदिर का दर्शन कर सम्मुख के द्वार पर खड़े वेत्रवती की तरंग-माला देख रहे थे; इतने में उनको अनायास एक ग्रामीण युवती दिखाई पड़ी। वह युवती अपने सिर पर एक डलिया लिए दूसरे तट से आ रही थी। ज्योंही नदी की एक धार पार कर टापू के तट पर पहुँची, त्योंही वह प्रसव पीड़ा से व्याकुल होकर सिर से डलिया उतार वहीं बैठ गई और मूर्च्छित हो गई। थोड़ी देर पीछे वह फिर विकल होकर रो उठी। दयालु वीरसिंह देव यह कौतुक देख

ही रहे थे। उनको विदित हो गया कि यह नवलबाल प्रसव-पीड़ा से विकल है। महाराज ने उसी समय राज-मंदिर में जा परिचारिकाओं को इसलिये भेजा कि वे उस निस्सहाय युवती की रक्षा करें। परिचारिकाओं ने जाकर उसे सँभाला और वहीं उसके पुत्र का जन्म हुआ। महाराज वीरसिंह देव ने उसे तुरंत पालकी पर बालक सहित उठवा मँगाया और बड़े प्रेम से उसकी रक्षा और सेवा कराई। अन्त में उसे उसके पति को सौंप दिया और प्रस्थान के समय उसे बहुत सा धन, रत्न, वस्त्रादि दे अपनी बेटी कह दिया। वह युवती ब्राह्मण वर्ण की थी। सती ब्राह्मणी उनको बहुत आशीर्वचन कहती अपने पति के घर गई। राजा के इस दया-संपन्न कार्य की ख्याति फैल गई। कहते हैं कि जब महाराज उस ब्राह्मणी को प्रस्थान करा रहे थे, तब एक महात्मा आकर राजा के सम्मुख खड़े हो गए और बोले—"राजन्! तेरा यह पुण्य-कार्य तेरे सब पुण्य-कार्यों से गुरुतर है। यह टापू सिद्धाश्रम है और तूने भी यहाँ पर महायज्ञ किया है।।यदि तू यहाँ पर अपना राजमंदिर तथा कोट बनवावेगा, तो वहाँ पर बैठ आज्ञा करने से तेरा आतंक दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जायगा। सिद्ध-वचन सिर पर धर राजा ने उसी समय वहाँ राजमंदिर आदि बनवाना प्रारंभ कर दिया। शुद्ध काल में कोट बनकर प्रस्तुत हो गया। कोट के भीतर ही और बहुत से कार्यालय बन गए और ओड़छा राजसभा के प्रवीण सभासदों के सुयश की सुवास दूर दूर तक फैलने लगी।

महाराज को यह बात भी भली भाँति ज्ञात थी कि मध्याह्न के पश्चात् साँझ होती है। शरीरधारी एक न एक दिवस मृत्यु का ग्रास होता ही है। कवींद्र केशवदास जी से महाराज ने स्पष्ट शब्दों में एक बार कह ही डाला कि हमारी जीवन-सन्ध्या का समय अब निकट आ चला, इसका तो मुझे कुछ दुःख नहीं है, परन्तु जब यह ध्यान आता है कि मृत्यु के प्रचंड बवंडर के झोंके से उड़ बालू के कणों की भाँति यह मंडली भी तितर-बितर हो जायगी, तब आँखों के सम्मुख अन्धकार सा छा जाता है और चित्त शोकाकुल हो उठता है, क्योंकि ऐसा समाज अब जन्मान्तर में भी मिलना कठिन प्रतीत होता है। गुरुवर, क्या आपके शास्त्र में कुछ ऐसा उपाय है जिससे यह समाज अधिक काल तक स्थिर रह सके? कवीन्द्र ने उत्तर दिया—राजन्! उपाय तो अवश्य है, परन्तु बहुत दुःखप्रद है। समस्त सभा यदि एक बार ही आत्मसमर्पण कर दे तो यह समाज प्रेत-योनि में एक सहस्र वर्ष तक स्थित रह सकता है। राजा ने उपाय से सहमत हो उसका विधान पूछा। कवीन्द्र ने प्रेतयज्ञ का विधान कहा। राजा ने यज्ञ के लिये आज्ञा दी। तुगारण्य पर बेत्रवती तट के दक्षिण ओर प्रेत-यज्ञ के लिये वेदी रची गई और वहीं पर सब सभा प्रेत-यज्ञ में आत्मसमर्पण कर भस्मीभूत हुई। मेरे अनुमान में यह ठौर महाराज वीरसिंह देव के समाधि-मन्दिर के पास कहीं पर होगा। प्रेतयज्ञ हुआ तो तुगारण्य में ही, परन्तु ठीक स्थान अनिश्चित है। महाराज के भस्मीभूत होने

ही ओड़छे के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जिस वीर केशरी ने अकबर ऐसे प्रबल सम्राट् का दर्प दमन किया था, उसके ही निर्बल पुत्र शाहजहाँ बादशाह के अधीन हो दिल्ली के दरबार आम के खंभों से टिक कर विनीत भाव से खड़े रहने लगे। केशवदास, विक्रमसिंह, अर्जुनसिंहादि अमात्यों की जगह प्रतीतराय सदृश अमात्यों की प्रतीति होने लगी। बिहारीलाल के समान कवि "जिन दिन देखे वै कुसुम गई सु बीति बहार। अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डार॥" कह ओड़छा छोड़ने लगे। ओड़छे की राजसभा ने यहाँ तक पलटा खाया कि जिस राजवंश के लोग बंधु-प्रेम में एक दूसरे पर प्राण निछावर करने को प्रस्तुत रहते थे, उन्हीं की गद्दी के अधिकारी अपने सहोदरों को विष देने लगे। राजकुमार हरदेवसिंह जी को उनके बड़े भाई ने अपनी पत्नी द्वारा विष दिलवाया। इस जघन्य कार्य्य पर राजवंश के सभी सम्बन्धी और सजातीय रुष्ट हो गए। इन्हीं वीरों पर राज्य के महत्व-मंदिर की नींव थी। वह उनकी उदासीनता से ऐसी पोली पड़ी कि राज्य धँसने लगा। सम्बन्धी इधर उधर तितर-बितर हो अपने छोटे छोटे राज्य अलग बना बैठे, जिनमें से बहुत से अब तक बुंदेलखंड के अन्तर्गत वर्तमान हैं। ओड़छा धीरे धीरे उजड़ने लगा। फिर कोई विशेष ख्याति का ऐसा कार्य्य नहीं हुआ जिससे इतिहास के पत्र सुभूषित होते। पर ओड़छा राजमन्दिर बना रहा। ओड़छे के राजमन्दिर में दीपक जलते रहे। थोड़े दिनों में राजधानी

ओड़छे से उठा कर टीकमगढ़ में कर दी गई। ओड़छे के राज-मन्दिरों में ताले पड़ गए।

झाँसी से चल कर जब हम ओड़छे के निकट पहुँचे और ओड़छा दो मील के लगभग रह गया, उस समय हमें पर्वतखण्डों के बीच मे एक विस्तृत तड़ाग दिखाई पड़ा। दक्षिण-पूर्व दिशा में एक बाँध बँधा है और बाँध पर थोड़ी थोड़ी दूर पर घाट की सीढ़ियाँ बनी हैं। बाँध की भित्ति में बहुत से दालान और कुएँ बने हैं यह तड़ाग राजताल के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अब खेती होती है।

यहाँ से चलकर हमें कोट दिखाई पड़ा। झाँसी द्वार से हमने इसमें प्रवेश किया। यह कोट अब केवल रर रह गया है। शेरशाह तथा औरंगजेब के समय के मुसलमानों की लड़ाइयों में तोपों के गोलों के धूँआँधार प्रहार से इस कोट की भीत नेनांत सिलपट हो गई थी। तब यहाँ रर बाँधी गई। रर इस देश में उस भीत को कहते हैं जो पत्थर पर पत्थर रख कर उठाई गई हो और पत्थर चूने से न जोड़े गए हों। यह रर भी अब टूट फूट गई है। प्राचीन झाँसी द्वार बंद कर दिया गया है। उसमें अब निराश्रय दीन रह कर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मार्ग के लिए एक नवीन द्वार तट के पत्थर हटा कर खोल दिया गया है। इसी में होकर हमने ओड़छा नगर में प्रवेश किया। यह रर ऐसी सुरक्षित है कि कोई व्यक्ति इस पर चढ़ने का साहस नहीं करता। नगर में अब रघुनाथजी

विराजते हैं। उनकी सेना लंगूर और वन्दर ही अब रर के रक्षक और प्रहरी हैं। उनके कारण सरलता से मनुष्यों को मार्ग चलना भी कठिन है।

एक सीधा मार्ग तट से लेकर तुंगारण्य और कंचना घाट तक मरहठो की हवेली के नीचे से होता हुआ चला गया है। यह मार्ग कँकरीली भूमि पर बहुत चौड़ा है, इस कारण इसमें कच्चे मार्ग का कोई कष्ट नहीं होता। मार्ग के किनारे पर प्राय. वृक्षों का अभाव है, परन्तु दोनों ओर मीलो तक कोसो की चौड़ाई मे पक्के मकानों के खँडहर, दूकानो के दर, चौंतरे और धनाढ्यों के घरों के उत्तुंग द्वार तथा भीतें खड़ी हैं। गंगा के मार्ग में मदार के गीतों की भाँति इन्हीं खँडहरो पर एक स्थान पर उत्तुंग शिखरमय मसजिद दिखाई पड़ती है। उसी के दूसरे ओर प्रतीतराय के महलों के द्वार खड़े हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक खँडहर ही खँडहर दिखाई पड़ते हैं, जो इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि ओड़छा एक समय में इस देश का एक अद्वितीय नगर था और कवींद्र केशव के "नगर ओड़छो जहँ वसै पंडित मंडित भीर" वाक्य को सत्य करता था। नगर के एक भाग मे सड़क ने एक हवेली को काटा है, जिसका नाम हमें मरहठों की हवेली बताया गया। इस पर मीने का काम अत्यन्त सुंदर है। इसी हवेली की पूर्व दिशा की ओर हरसिद्धि माई का मंदिर है। यहाँ एक छोटा सा पाँच छः दूकानों का बाजार है जिसमें ग्रामीणो की विशेष विशेष आवश्यक-

ताओं की वस्तुएँ मिल जाया करती हैं। बाजार में पहुँच क
सड़क त्रिशूलाकार हो जाती है। एक शाखा रघुनाथ जी के मंदि
नौ-चौकिया फूल बाग और चतुर्भुज जी के मन्दिर की ओ
जाती है; दूसरी वेत्रवती के समानांतर में व्यासपुरा, महाराज वी
सिंह देव के समाधि-मंदिर, कंचना घाट और तुंगारण्य की ओ
जाती है। तीसरी शाखा वेत्रवती की एक भुजा पर के पुल से होक
राजमंदिरों की ओर जाती है। यह मार्ग त्रिशूल सा प्रतीत होता है

इस त्रिशूल की मध्य शाखा से दाहिनी ओर चल क
आपको विस्तृत वाटिका मिलेगी जो नौ चौकिया फूलबाग के
नाम से प्रसिद्ध है। यह राजमंदिर की विलास-वाटिका है।
दीर्घदर्शी महाराज मधुकर शाह ने अपने नौ पुत्रों के रहने के
लिये नौ चौक का एक मन्दिर बनवाया था और उसके
मध्य भाग में यह वाटिका लगवाई थी। इसके वृक्षों के थाले
पक्के बने हैं और विचित्र विचित्र आकार के हैं। थालों
के मध्य भाग में एक ऊँची बैठक का, पक्का एक खंडा वर्गाकार
मन्दिर बना है। यह राजकुमार हरदेवसिंह की बैठक के नाम
से प्रसिद्ध है। इसके चतुर्दिक् बहुत बड़े बड़े तिखड़े, चौखंडे
दालान और कमरे बने हैं। सैकड़ों फुहारों की पाँतें वाटिका
में फैली चली गई हैं। जब कभी उनमें जल-संचार होता है, तब
एक विशेष कुतूहल उत्पन्न करता है और सैकड़ों यात्री इस
उत्सव को देखने के लिए श्रावण मास में एकत्र होते हैं। एक

कमरे के नीचे पत्थर का एक प्याला रक्खा है जिसमें मनुष्य डूब सकता है। इसमें यह विचित्रता है कि यह बजाने से काँसे के बर्तन की भाँति बजता है। इसके निकट एक बहुत बड़ा तहखाना है जो फूल बाग से लेकर बावली के पास से होता हुआ बाजार तक चला गया है। उसमें उजाले तथा वायु के प्रवेश के लिए दो बड़े ऊँचे खम्भे बने हैं जो सावन-भादों के नाम से प्रसिद्ध हैं। फूल बाग अभी तक अच्छी दशा में है। इस वाटिका में एक बड़ी शोकप्रद ऐतिहासिक दुर्घटना हुई थी। कहते हैं कि जब ओड़छाधीश, महाराज वीरसिंह देव के पीछे, दिल्लीश्वर की राज-सभा में रहने लगे, तब राज्य-प्रबंध का भार राजकुमार हरदेवसिंह के सिर पर पड़ा। वे अपना सभी कार्य्य भली भाँति सँभालते रहे और दत्तचित्त हो राज्य-प्रबन्ध करते रहे। उनके प्रबंध में घूस खानेवालों का निर्वाह न था। जिन लोगों का पेट घूस ही के द्वारा भरता था, उनमें हरदेवसिंह से द्वेष उत्पन्न हो गया और वे राज्य-प्रबंध हरदेवसिंह से छीनने का प्रयत्न करते रहे। राजकुमार की भक्ति अपनी भ्रातृ-पत्नी में माता के समान थी; और वह भी अपने देवर को पुत्रवत् ही मानती थीं। परस्पर यही संबंध सदैव रहता था। पुत्रवत्सला माता को जैसे अपने पुत्र को बिना देखे चैन नहीं पड़ता, वैसी ही दशा उनकी भ्रातृ-पत्नी की थी। विश्वासघाती प्रतीतराय ने यह देख भ्राताओं में वैमनस्य कराना चाहा और एक पत्र राजा को लिखा कि राजकुमार का

राजमहिषी से अनुचित संबंध है। राजा ने पत्र पढ़ राजमहिषी के सतीत्व पर सन्देह कर परीक्षा करनी चाही। उन्होंने आते ही राजमहिषी से कहा कि यदि तुम्हारे सतीत्व में अंतर नहीं पडा और तुम्हारा हरदेवसिंह से घृणित संबंध नहीं है, तो तुम उसे अपने हाथ से विष दो। राजमहिषी ने बड़े दुःख से अपने धर्म-रक्षार्थ प्रस्ताव स्वीकार किया और भोजन प्रस्तुत किए। कहते हैं कि जब भोजन हरदेवसिंह को परोसने लगीं, तब उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। हरदेवसिंह ने घबरा कर पूछा—माता, आज पुत्र के खिलाने में तुम क्यों रोती हो? राजमहिषी धाड़ मार कर रो उठी। जब हरदेवसिंह ने बहुत प्रबोध किया तब वे बोलीं—"वत्स! अब मैं माता कहे जाने योग्य नहीं हूँ। महाराज को मेरे सतीत्व में संदेह हुआ है। जगत् का प्रलय होते हुए भी स्त्री का पहला धर्म सतीत्व-रक्षा है; उसी की इस समय परीक्षा ली गई गई है जिसके कारण तुम सा देवर, जो वास्तव में मेरे पुत्र के समान ही था, आज विष भोजन कर रहा है। अपनी धर्म-रक्षा के लिए आज मुझ दुर्भागिनी को यह घोर वत्स-हत्या करनी पड़ी।" हरदेवसिंह यह सुनते ही उस भोजन को बड़े प्रेम से शीघ्र शीघ्र खाने लगे और बोले—"माता! यह भोजन मेरे लिये अमृत समान है। तेरी धर्म-रक्षा से मेरी सुकीर्ति युगानुयुग चलेगी।" राजमहिषी इन सौजन्यपूरित वाक्यों को सुन और भी कातर हो उठीं। उनके ज्येष्ठ भ्राता यह धर्म-परीक्षा और धर्म-भक्ति देख

कर्त्तव्यविमूढ़ पत्थर की प्रतिमा के समान मुग्ध हो अपनी दुर्बुद्धि पर रोने लगे। हरदेवसिंह जी वहाँ से रसोई का विषपूरित शेष भोजन उठवा लाये और उन्होंने अपनी दशा का अंतिम समाचार अपने मित्रों, सेवकों और कर्मचारियों से कहा। उनमें से कितने ही हरदेवसिंह के सद्गुणों पर ऐसे अनुरक्त थे कि वे उनके साथ ही चलने को उद्यत हो गए और बहुतों ने वही विषपूरित भोजन पा लिया। हरदेवसिंह जी के प्यारे हाथी और घोड़े को भी वही भोजन दिया गया। हरदेवसिंह जी अपनी बैठक के बँगले में बैठ गए। प्रेम-रस पीनेवाले थोड़ी देर में झूम झूम कर गिरने लगे। हरदेवसिंह जी अपनी सेना के अग्रणियों का स्वर्ग मार्ग में बढ़ना देखते ही देखते स्वयं भी झूमने लगे। काल रूपी अश्व उनके लिये प्रस्तुत होने लगा। जब विष की तरंगों की उमंगें उनके शरीर में उठने लगीं, तब वे वाटिका के बँगले से उठ एक पत्थर के टुकड़े पर, जो रघुनाथ जी के मंदिर के आँगन में ठीक मूर्ति के सम्मुख गड़ा है, मर्य्यादा-पुरुषोत्तम की मूर्ति के सम्मुख हाथ जोड़ आ बैठे और ध्यानावस्थित मुद्रा में प्रेम-पूर्ण लड़खड़ाती वाणी से त्रितापहारी अवध-विहारी से अपने पापों की क्षमा और उनकी दया की भिक्षा माँगने लगे और थोड़ी ही देर में वहीं समाधिस्थ हो ब्रह्मानंद में लीन हो गए। कुमार हरदेवसिंह उसी समय से प्रख्यात हरदेवलाल के नाम से विशूचिका के दिनों में पुजने लगे। इनके चौंतरे सारे मध्य देश में बने हुए हैं। हरदेव-

सिंह जी की मृत्यु के पीछे समस्त ओड़छे में उदासी छा गई। राजा के इस जघन्य कर्म की निंदा सजातीय और विजातीय सब लोग करने लगे और ऐसे अविवेकी महाराज के साथ को सर्वदा भयप्रद जानकर उनसे संबंध तोड़ बैठे। संबंधियों ने भी महाराज से नाता तोड़ा।

यहाँ से चलकर हम चौक में पहुँचे। यह चौक स्वयं महाराज मधुकर साह के रहने का है। सुनते हैं कि पहले यह राजमंदिर था। इसके द्वार पर बड़े बड़े खँड़हर पड़े हैं। इस मंदिर का चौकोर आँगन बहुत बड़ा है। आँगन में तुलसी के पौधे के पास वह पत्थर गड़ा है जिस पर राजकुमार हरदेवसिंह जी ने बैठकर रघुनाथ जी के दर्शन करते हुए अंतिम साँस ली थी। उसी के निकट वे तीन प्याले गड़े हैं जिनमें हरदेव सिंह जी के भोजनों में मिलाने को विष घोला गया था।

यहाँ से चल बेतवा नदी की एक शाखा पर के पुल पर से होकर हम महाराज वीरसिंह के किले के द्वार पर पहुँचे। किले के द्वार से प्रवेश कर सबसे पहले जनहीन जहाँगीरपुर नामक मंदिर में प्रवेश किया। यह राजप्रासाद मुगल सम्राट् जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि जहाँगीर जब अपने घनिष्ट मित्र वीरसिंह देव जू के अतिथि हुए थे, तब वे इसी राजप्रासाद में ठहराए गए थे। बहुत ऊँची बैठक पर यह विस्तृत राजमंदिर तीन खंड ऊँचा बना है। इसका आँगन बहुत स्वच्छ और लंबा चौड़ा है। लाल पत्थर की सीढ़ियाँ

तीनों खंडो में लगी हुई हैं। मन्दिर का आकार चौकोर है। प्रत्येक खंड में चौड़ी चौड़ी खुली छतें हैं और उनके समानांतर चंद कमरे बने हैं जिनमें बहुत सी खिड़कियाँ, झरोखे आदि हैं। उस पर के कलश और कंगूरे तथा गुम्बदों की सुराहियाँ मीने के काम से अलंकृत हैं। इसके चारों ओर किले की दीवारें झीलों तक चली गई हैं। यह राजप्रासाद बहुत विस्तृत है। इसकी दूसरी ओर एक फाटक है जो रनवास का द्वार था और सिहपौर के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि प्रेतयज्ञ की बीभत्स चर्चा पहले-पहल इसी के पास किसी मंदिर में उठी थी।

यहाँ से चलकर हम इसी से मिले हुए राजमन्दिर नामक महल मे पहुँचे। इसके द्वार पर दरबार हाल बहुत सुन्दर, सुडौल और तिहरे दालान का बना है। इसकी छत मे सुनहला और रंगीन काम है। ओड़छे के बड़े बडे दरबार और राजतिलक आदि उत्सव इसी में होते थे। इसे देखते ही महाराज वीरसिंह देव जू के प्रबल प्रताप और आतंक का चित्र आँखों के सामने घूम जाता है। राजसिंहासन के लिये एक ऊँचा चबूतरा सा अलग बना है। इस मन्दिर में बहुधा टीकमगढ़-नरेश ठहरते हैं। जहाँगीर की भाँति यह राजमंदिर भी बड़ा ही विस्तृत और सुन्दर बना है, परन्तु इसमे मीने का काम नहीं है। हाँ, दीवारों पर और छतों में अद्भुत चित्रकारी अवश्य है और जगह जगह शीशे भी जडे हैं। इसकी स्वच्छता जहाँगीर-पुर से भी अधिक है। यह क़िले के फाटक से मिला हुआ है।

वेत्रवती इसके बहुत ही निकट होकर बही है। इसमें ऐसे मरो बनाए गए हैं जिनमें से ओड़छा नरेश श्रीचतुर्भुजदेव की मूर्त्ति दर्शन अपने भवन के भीतर से ही, सेज से सिर उठाते ही, व सकते थे। उदास भाव से इस राजमन्दिर को छोड़ हम किले एक चबूतरे पर रक्खे हुए तोपखाने को देखने गए। वह भी दुर्दश में पड़ा है। कई तोपें भूमि पर पड़ी हैं, युद्ध के चर्खे के पहि टूटे हैं। त्रिशूलपथ की दो धारों पर चल आहत हुए भी प्रेम विवश हम तीसरी धार पर चले। इस पर चलते ही हमें कवीन्द्र केशवदास जी के व्यासपुरे के खँडहर दिखाई पड़े। ये खँडहर मुझे उन पूर्वजों की बिखरी हड्डियाँ प्रतीत हुए, जिनके नाम से अब भी हमारे देश, जाति और साहित्य का गौरव है।

इस समय ग्रहपति का तेज मन्द हो रहा था, विश्रामार्थ वे अस्ताचल की ओर प्रबल वेग से बढ़ रहे थे। जिधर देखो, उधर साँय साँय कर रहा था। यह क्यों? वहाँ ऐसा ही होना ठीक था, क्योंकि यहाँ पर साधारण लोग नहीं, किन्तु वीर, धर्मात्मा और आर्यकुल के गौरव, प्रात. स्मरणीय, प्रतापवान् राजा महाराज अपने आयुष्य और कर्त्तव्यों को पूर्ण कर अटल निद्रा में सो रहे हैं। ऐसे वीरों को निद्रित देख प्रकृति का भी साहस नहीं होता कि यहाँ कोलाहल कर, उनकी निद्रा भंग करे। वह भी वहाँ उस समय निस्तब्ध हो रही थी और हमें वहाँ का चित्र दिखा यह शिक्षा दे रही थी कि संसार के चरित्रों

को देख मौन धारण करो, क्योंकि इस यात्रा का अन्तिम फल मौन ही है। अन्यथा यह कब संभव था कि जिन महाराजाओं के आतंक से दिशाएँ थर्राती थीं, उनकी अंतिम शय्या की यह दुर्दशा हो कि उनका समाधि-मन्दिर तक पूरा न बने। महाराज मधुकर साह की छतरी जलमग्न हो जाय, और कोई उसका उद्धार भी न करे। जिस वीर केशरी वीरसिंह देव के विमल यश से राजपूत वंश का मुख उज्वल है, उन्हीं की अस्थियों की समाधि पर करोड़ों मन नदी का बालू और सड़े गले दुर्गंधमय पदार्थ पड़े हैं। समय के फेर से महाराज वीरसिंह देव की समाधि में कोई एक दीया भी जलानेवाला नहीं है। किसी में इतनी पितृभक्ति नहीं कि इस अधूरे समाधि-मन्दिर को पूरा कर दे। दिनों का फेर यही है। इस दशा को देख कर प्रकृति के अनुकूल ही यहाँ मौन धारण करना पड़ा। आँख भर यह चित्र देख तुंगारण्य होते महाराज सामंतसिंह और महाराणी हिमांचल कुँवरी की अरक्षित खंडित मूर्तियों के दर्शन करते हुए हम आगे बढ़े और दीया जलते जलते खिन्न-चित्त से वेत्रवती के निर्मल जल का आचमन कर कालदेव को प्रणाम कर झाँसी की ओर लौट आए।

---

(७)

नक़ल का निकम्मापन

अँगरेज़ी मे एक कहावत है कि सबलाइम (Sublime) से हास्यकर (Rediculous)का अन्तर अधिक नहीं है। संस्कृत अलङ्कार का अद्भुत रस सब्लीमीटी (Sublimity) का प्रतिशब्द है। किन्तु अद्भुत रस दो प्रकार का है—हास्यकर अद्भुत और विस्मयकर अद्भुत।

दो दिन के लिए मैं दार्जिलिङ्ग घूमने गया था। वहाँ ये दोनों प्रकार के अद्भुत रस एकत्र देखने में आए। एक ओर देवात्मा नगाधिराज हिमालय और दूसरी ओर विलायती कपड़े पहने हुए बंगाली। सबलाइम और हास्यकर बिल्कुल ही एक दूसरे से चिपटे हुए!

मैं यह नहीं कहता कि अँगरेज़ी कपड़े ही हास्यकर हैं, न मैं यह बात ही उठाना चाहता हूँ कि बंगालियों का अँगरेज़ी कपड़ा पहनना ही हास्यकर है। किन्तु बंगालियों के शरीर पर बेमेल विलायती कपड़े यदि करुणरसात्मक न हों तो हास्यकर तो निस्सन्देह हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस विषय में किसी के साथ मतभेद न होगा।

धोती एक तरह की है तो टोपी दूसरी तरह की, कालर है

तो टाई नहीं, कुरता शायद उस रंग का है जिसे देखकर अँगरेज डर जाते हैं। सारी बेमेल पोशाक शायद ऐसी है जिसे घर के बाहर पहनना अँगरेज नहीं के बराबर समझते हैं। ऐसी नासमझी की सजावट का कारण क्या है ?

यदि कोई अँगरेज अपनी धोती की काछ आगे और चुनन पीछे रखकर बंगाली टोले में घूमे तो वह सम्मान पाने की आशा नहीं कर सकता। हमारे जो बंगाली भाई अद्भुत विलायती ठाठ से गिरिराज की सभा में भाँड़ बनकर घूमते हैं, वे घर के पैसे खर्च कर अँगरेज दर्शकों का तमाशा बनते हैं।

बेचारे और क्या करेंगे ? वे अँगरेजी चाल किस तरह जानेंगे ? जो विलायत होकर आए हैं और बंगालियों की चाल जानते हैं, वे ही अपने देशी भाइयों के इस बेमेल पहनावे से सबसे अधिक लज्जित होते हैं। वे ही सबसे अधिक बिगड़ कर कहते हैं—"यदि नहीं जानते हैं तो क्यों पहनते हैं ? सिर्फ अँगरेजों की नजरों में हमें नीचा दिखलाते हैं।"

क्यों नहीं पहनेंगे ? तुम अगर पहनो और देशी पोशाक पहननेवालों से अपने को बड़ा समझो, तो उस बड़प्पन से वे क्यों वञ्चित रहने लगे ? अगर तुम्हारी यह राय हो कि हमारा स्वदेशी ठाठ छोड़ने के योग्य है और विदेशी ग्रहण करने के, तो तुम्हारे दल में आकर जो मिलते हैं, उनको रोकने से काम नहीं चलेगा।

तुम कहोगे कि यदि विलायती पोशाक पहनना है तो

पहनो, पर कौन भले मानस के योग्य है और कौन नहीं, कौन उचित है और कौन विचित्र, इसकी खबर तो रखो।

किन्तु यह कभी सम्भव नहीं है। जो अँगरेजी समाज में नहीं हैं और जिनके भाई बिरादरी बंगाली हैं, वे अँगरेजी रीति का आदर्श क्योंकर पाने लगे?

जिनके पास रुपये हैं, वे रेंकेन और हार्मन* के हाथ में आँखें बन्द कर आत्मसमर्पण कर देते हैं और बड़े बड़े बेरों पर सही कर देते हैं और मन ही मन खुश होते हैं कि और चाहे कुछ न हो, पर हमें देख कर, लोग कम से कम भद्र गोरे तो अवश्य समझेंगे; और कोई यह बेटब कलङ्क नहीं लगा सकेगा कि यह अँगरेजी तमीज नहीं जानता।

किन्तु पन्द्रह आना बंगालियों को रुपये का टोटा है और चाँदनी† ही उनके बंगाली ठाठ का चरम मोक्षस्थान है। इसलिये उलट-पुलट, भूल-चूक होगी ही। ऐसी दशा में दूसरों की पोशाक की नक़ल करने से बहुरूपिया बनने के सिवा दूसरी गति नहीं।

दो चार कौवे अवस्था विशेष में मोर के पंख मनमाने तौर

---

* रेंकेन (Ranken) और हार्मन (Harman) कलकत्ते के प्रसिद्ध अँगरेजी पोशाक बनाने और बेचनेवाले हैं।

† चाँदनी चौक कलकत्ते का एक बड़ा बाज़ार है जहाँ विलायती कपड़े वगैरह बिकते हैं।

पहनो, पर कौन भले मानस के योग्य है और कौन नहीं, कौन उचित है और कौन विचित्र, इसकी खबर तो रखो।

किन्तु यह कभी सम्भव नहीं है। जो अँगरेजी समाज में नहीं हैं और जिनके भाई बिरादरी बंगाली हैं, वे अँगरेजी रीति का आदर्श क्योंकर पाने लगे?

जिनके पास रुपये हैं, वे रेंकेन और हार्मन* के हाथ में आँखें बन्द कर आत्मसमर्पण कर देते हैं और, बड़े बड़े चेकों पर सही कर देते हैं और मन ही मन खुश होते हैं कि और चाहे कुछ न हो, पर हमें देख कर, लोग कम से कम भद्र गोरे तो अवश्य समझेंगे; और कोई यह वेढव कलङ्क नहीं लगा सकेगा कि यह अँगरेजी तमीज नहीं जानता।

किन्तु पन्द्रह आना बंगालियों को रुपये का टोटा है और चाँदनी† ही उनके बंगाली ठाठ का चरम मोक्षस्थान है। इसलिये उलट-पुलट, भूल-चूक होगी ही। ऐसी दशा में दूसरों की पोशाक की नक़ल करने से बहुरूपिया बनने के सिवा दूसरी गति नहीं।

दो चार कौने अवस्था विशेष में मोर के पंख मनमाने तौर

---

* रेंकेन (Ranken) और हार्मन (Harman) कलकत्ते के प्रसिद्ध अँगरेजी पोशाक बनाने और बेचनेवाले हैं।

† चाँदनी चौक कलकत्ते का एक बड़ा बाजार है जहाँ विलायती कपड़े वगैरह बिकते हैं।

से लगा सकते हैं, पर सब कौवे वैसा किसी तरह नहीं कर सकते, क्योंकि मोरो के समाज में उनकी घुस-पैठ नहीं है। ऐसी दशा मे समस्त काक-संप्रदाय की हँसी न कराने के लिये ऊपर कहे हुए दो चार बदलनेवालों को मोरपंख के लोभ को रोकना ही पडेगा। यदि न रोकें तो नक्ल करने की भद्दी चाल तमाम फैल जायगी।

इस लज्जा से अँगरेजीपन के इस विकार से स्वदेश को बचाने के लिये क्या हम जबरदस्त नक्कालों से सविनय प्रार्थना नहीं कर सक्ते? क्योंकि वे समर्थ हैं, और सब असमर्थ हैं। यहाँ तक कि किसी विशेष अवस्था मे उनके पुत्र-पौत्र भी असमर्थ हो जायँगे। वे जब गोरी सभ्यता के गड्ढे में समाज से निकाले हुए कूड़े की तरह पड़े पड़े सड़ेंगे, तब क्या रैंकेन-विलासियों की प्रेतात्मा शान्ति लाभ करेगी?

दरिद्र किसी तरह भी दूसरो की नक्ल भली भाँति नहीं कर सकता। नकल करने के लिये बहुत सी सामग्री चाहिए। बाहर से उसके लिये बहुत तैयारियाँ करनी होंगी। जिसकी नकल करनी होगी, सदा उसके संसर्ग में रहना होगा। दरिद्रो के लिये यही सब से कठिन है। ऐसी अवस्था में नक्ल करने से आदर्श भ्रष्ट हो कर एक अद्भुत जन्तु बन जाना पड़ता है। बंगालियो के लिये ऊँची धोती पहनना लज्जा की बात नहीं है, पर ऊँचा पतलून पहनना लज्जा की बात है; क्योंकि ऊँचे पतलून से केवल उनकी असमर्थता ही नहीं मालूम होती, बल्कि उससे यह भी जाना जाता

है कि दूसरों की नकल करने की जो चेष्टा और स्पर्द्धा प्रकट होती है, वह दरिद्रता के साथ किसी तरह सुसङ्गत नहीं है।

आचार-व्यवहार और सजावट उद्भिद के समान है। उसे उखाड़ कर लाने से वह सूख कर या सड़ कर नष्ट हो जाती है। विलायती वेशभूषा और अदब-कायदे के लायक़ मिट्टी यहाँ कहाँ? वह कहाँ से अभ्यस्त रस चूस कर सजीव रहेगा? एक आध आदमी खर्च करके बनावटी तरीके से मँगा सकता है और रात-दिन होशियार रह कर और जी जान से कोशिश करके उसे किसी तरह खड़ा रख सकता है। किन्तु यह केवल दो चार शौक़ीनों से ही हो सकता है।

जिसे पालन कर सजीव नहीं रख सकते, उसे घर में ला और सड़ा कर हवा बिगाड़ने की क्या जरूरत? इससे दूसरों को भी कष्ट होता है, और अपनी भी मिट्टी पलीद होती है। सबकी मिट्टी, पलीद करने की तैयारी बंगाल में ही देखी जाती है।

तब क्या परिवर्तन न होगा? जहाँ जो है, वह क्या वहाँ सदा एक ही तरह से रहेगा?

प्रयोजन के नियम के अनुसार परिवर्तन होगा, अनुकरण के नियमानुसार नहीं; क्योंकि अनुकरण बहुधा प्रयोजन के विरुद्ध होता है। वह सुख, शान्ति और स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है। चारों ओर की अवस्था के साथ उसका सामंजस्य

नहीं है। उसे चेष्टा करके लाना पड़ता है और कष्ट उठाकर उसकी रक्षा करनी पड़ती है।

अतएव रेलगाड़ी में सफ़र करने के लिये, आफ़िस जाने के लिये और नई नई जरूरतों के लिये कटे छँटे कपड़े बनवा लो। तुम उसे देश, काल और पात्र के अनुसार बनवा लो। सम्पूर्ण इतिहास-विरुद्ध, भावविरुद्ध, संगतिविरुद्ध, अनुकरण की ओर मूर्ख की तरह मत दौड़ो।

पुराने के परिवर्तन और नए के निर्माण करने में दोष नहीं है। आवश्यकता होने पर सभी जातियों को सदा यह करना पड़ता है। पर ऐसी हालत में जरूरत की दुहाई देकर पूरी नकल करने से काम नहीं चलता। जरूरत की दुहाई बस बहाना ही बहाना है, क्योंकि पूरी नक़ल से कभी पूरा फायदा नहीं हो सकता। हो सकता है कि किसी विषय का एक अंश काम का हो और दूसरा फालतू। कदाचित् अँगरेजी पहनावे का छँटा हुआ कोट दौड़-धूप के लिये आवश्यक हो सकता है, पर उसका वेस्ट कोट अनावश्यक और उत्तापजनक है। उसकी टोपी कदाचित् माथे में गप से पहन लेना सहज हो सकता है, पर टाई और कालर बाँधने में समय को व्यर्थ नष्ट करना होता है।

जहाँ परिवर्त्तन और नूतन निर्म्माण असम्भव और शक्ति के बाहर है, वहीं अनुकरण करना क्षमा के योग्य हो सकता है। पहनने ओढ़ने के विषय में यह कभी नहीं चल सकता।

विशेष कर कपड़े-लत्ते से केवल शरीर ही नहीं ढका जाता, वल्कि उससे ऊँच नीच, देशी विदेशी, स्वजाति परजाति का भी परिचय मिलता है। अँगरेजी वस्तु की शिष्टता अँगरेज ही लोग जानते हैं। हमारे अधिकांश भले मानसों के लिये इसके जानने की सम्भावना नहीं है। यदि जानने की चेष्टा करें तो भी सदा डरते हुए दूसरों के मुख की ओर ताकना पड़ता है।

इसके बाद स्वजाति-परजाति की बात है। कोई कहते हैं कि अपनी जाति छिपाने के लिये विलायती कपड़े दरकार होते हैं! यह बात कहने में जिसे लज्जा नहीं है, उसे भला कौन लज्जित कर सकता है? रेलवे में गोरा भाई समझकर जो लोग आदर करते हैं, उसका लालच रोकना ही अच्छा है। किसी किसी रेलवे में देशी-विदेशियों के लिये अलग अलग गाड़ियाँ हैं, किसी किसी होटल मे देशी घुसने नहीं पाते। इसलिये गुस्से होकर दु ख पाने का अवसर यदि आ जाय तो वह दु ख स्वीकार करो। पर जातीयता छिपा कर किसी गाड़ी या होटल में प्रवेश करने से क्या सम्मान बढ़ेगा, यह समझना कठिन है।

कितना परिवर्तन अनुकरण कहा जा सकता है, यह निश्चय करना कठिन है। तब हाँ, साधारण नियम की तरह एक बात कही जा सकती है। जिस अंश का मेल अपने साथ मिल जाय, उसके लेने का नाम ग्रहण करना है; और जिसका नहीं मिले, उसका लेना अनुकरण करना है।

पाताना पहनने से कोट पहनना जरूरी है, यह कोई बात

नहीं है। धोती के साथ भी पाताया कभी चलता है और कभी नहीं चलता। किन्तु कोट के साथ धोती का और हैट के साथ चपकन का मेल नहीं मिलता। साधु अँगरेजी भाषा के साथ बीच बीच में फ्रान्सीसी भाषा मिलाने से भी काम चल जाता है, यह अँगरेजी पाठक जानते हैं। किन्तु यह मिलावट कहाँ तक हो सकती है, इसका निश्चय ही बिन-लिखा नियम है। वह नियम बुद्धिमान् व्यक्ति को सिखाना निरर्थक है। तथापि तर्क करनेवाले कह सकते हैं कि यदि तुम इतनी दूर चले गए तो मैं जरा और आगे बढ़ गया तो मुझे कौन रोकेगा? बात तो ठीक है। यदि तुम्हारी रुचि ही तुम्हें न रोके, तो किसके बाप-दादा की समर्थ्य है कि तुम्हें रोक सके!

पहनावे के विषय में भी यही तर्क हो सकता है। जिनका ठाठ सिर से पैर तक विलायती है, वे समालोचक से कहते हैं— तुम चकन के साथ पतलून क्यो डाँटते हो? अन्त में इस तर्क से एक झगड़ा खड़ा हो जाता है।

इस विषय में मेरा कथन यही है कि यदि अन्याय हुआ हो तो निन्दा करो, संशोधन करो। यदि दूसरे किसी प्रकार का पाजामा काम का और देखने में अच्छा हो, तो उसे पतलून के बदले पहनो। पर केवल इसी कारण सारे देशी कपड़े क्यों छोड़ बैठो? एक आदमी ने अपना कान काट डाला, इसलिये दूसरा खामख्वाह अपने दोनों कान काट डाले, इसमें क्या बहादुरी है, यह समझ में नहीं आता।

नये प्रयोजन के साथ जब पहले-पहल परिवर्त्तन का आरंभ होता है, तब एक प्रकार की अनिश्चितता का प्रादुर्भाव हुआ ही करता है। उस समय कहाँ तक क्या होगा, इसकी कोई सीमा नहीं रहती। कुछ दिनों की रेल-पेल के बाद आपस में हदबन्दी आप ही पक्की हो जाती है। उसी अनिवार्य्य अनिश्चितता पर दोष लगा कर जो पूरी नक़ल करने की ओर आगे बढ़ते हैं, वे बहुत ही बुरा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।

आलस्य संक्रामक है। दूसरों की बनाई हुई चीजों के लोभ में अपनी सारी चेष्टा से हाथ धो बैठने का उदाहरण देखकर लोग उस ओर आकृष्ट होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि दूसरों की चीज कभी अपनी नहीं की जा सकती। वे यह भी भूल जाते हैं कि दूसरों के कपड़े पहनने से सदा दूसरों ही की ओर ताकना पड़ेगा।

जिसके आरंभ में जड़ता है, उसका परिणाम विकार है। यदि आज यह कहें कि इतना कौन सोचे, चलो विलायती दूकान में जाकर एक सूट के लिये आर्डर दे आवें, तो कल कहेंगे कि पतलून ऊँचा हो गया है, पर कौन इतना बखेड़ा करे, चलो इसी से काम चल जायगा।

काम चल जाता है, क्योंकि बंगाली समाज में विलायती कपड़ों के बेमेलपन की ओर कोई नजर उठा कर नहीं देखता। इसी से उन लोगों में भी विलायती सजावट की ढिलाई देखी जाती है। जो विलायत हो आए हैं, सस्तेपन पर नजर रखने

और सुस्ती के कारण उनमें से बहुतेरे अपना ठाठ-बाट ऐसा बनाते हैं जो भलमनसी के बिलकुल बाहर है।

केवल यही नहीं। वे किसी बंगाली बंधु के घर पर विवाहादि शुभ कर्म के समय बंगाली भद्र पुरुष की तरह कपड़े पहन कर जाने में अपमान समझते हैं और विलायती शिष्टता के नियम के अनुसार निमन्त्रण वस्त्र पहन कर जाने में भी आलस्य करते हैं। विदेशी पहनावे में कौन ठीक है और कौन नहीं, यह वे नहीं जानते; इसी से वे शिष्ट समाज के विधि-विधानों के बाहर चले जा रहे हैं। अँगरेज़ी समाज में सामाजिक भाव में उनकी घुसपैठ नहीं हो सकती और देशी समाज की वे सामाजिक रूप से उपेक्षा करते हैं; इसलिये उनका सारा आचरण अपने मन का है, अपने सुभीते का है। उस विधान में आलस्य और उदासीनता में बाधा देनेवाला कुछ भी नहीं है। विलायत के तजे हुए कपड़े इन विदेशियों के शरीर पर कैसा बीभत्स रूप धारण करेंगे, यह कल्पना करने से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

केवल पहनावे में नहीं, बल्कि आचार-व्यवहार में भी ये बातें और भी अधिक घटती हैं। विलायत से लौटकर जो अपने को देशी चाल से बिल्कुल अलग कर चुके हैं, उनके आचार व्यवहार को सदाचार और सद्व्यवहार की सीमा में आबद्ध कर कैसे रखोगे? जिन अँगरेजों का आचार उन्होंने ग्रहण किया है, उनके साथ वे घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रख

सकते और देशी समाज की घनिष्ठता को वे ज़बरदस्ती काट चुके हैं।

इंजन अलग कर लेने पर भी गाड़ी कुछ देर तक चल सकती है, वेग एकाएक रुक नहीं जाता। विलायत का धक्का विलायत से लौटे हुए लोगों पर कुछ दिनों तक रह सकता है; पर पीछे वे कैसे चलेंगे?

समाज के हित के लिए सब समाजों में ही कई कठोर नियम आप ही आप बन जाते हैं। जो अपनी इच्छा से अपने समाज के त्याज्यपुत्र हैं और चेष्टा करने पर भी दूसरों के समाज के पोष्य पुत्र नहीं हैं, वे स्वभाव से ही दोनों समाजों के नियमों को तोड़ कर केवल सुख लूटने की ही चेष्टा करेंगे। उससे क्या लाभ होगा?

इन लोगों के तो दिन किसी तरह से कट जायँगे, पर इनके बेटे-पोते क्या करेंगे? और जो नक़ल की नक़ल करेगा, उसकी क्या दुर्दशा होगी?

देश के दरिद्रों का भी समाज है। दरिद्र होने पर भी उनकी गिनती भले आदमियों में हो सकती है। किन्तु अँगरेज़ बने दरिद्रों का कहीं ठिकाना नहीं है। बंगाली साहब केवल धन-सम्पत्ति और क्षमता के द्वारा अपने को दुर्गति से बचाए रख सकता है। ऐश्वर्य के नष्ट होते ही बंगाली साहब का बेटा सब तरह से आश्रयहीन होकर अपमान में डूब जाता है। उस समय उसके पास न क्षमता ही रहती है और न

परम्परागत पैतामहिक समाज का ही आधार रहता है। उस समय वह कौन है ?

जो केवल अनुकरण और सुभीते के लिये अपने समाज से अपने को अलग कर रहे हैं, उनके पुत्र-पौत्र उनके कृतज्ञ न होंगे, यह निश्चय है; और जो दुर्बल चित्तवाले इनका अनुकरण करने दौड़ेंगे, वे सब प्रकार से हास्यास्पद हो जायँगे, इसमें भी संदेह नहीं है।

जो लज्जा का विषय है, उसी पर जब कोई विशेष रूप से गौरव करे, तब मित्रों का कर्त्तव्य है कि उसे सचेत कर दें। जो मन में इस बात का गर्व करते हैं कि हमने साहब का अनुकरण किया है, वे वास्तव में साहबाना ठाठ का अनुकरण करते हैं। साहबाना ठाठ का अनुकरण करना सहज है, क्योंकि वह बाहर का जड़ अंश है; पर साहब का अनुकरण करना कठिन है, क्योंकि वह भीतर का मनुष्यत्व है। यदि उनमें साहब का अनुकरण करने की शक्ति रहती तो वे कभी साहबाना ठाठ की नक़ल न करते। अतएव यदि कोई मिट्टी का शिव बनाते बनाते उसके बदले में कुछ और बना डाले तो उसके लिये उसका कूद-फाँद न करना ही उत्तम है।

आजकल हमारे देश में एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता है। जो लोग आज विलायती पोशाक पहनते हैं, वे अपनी स्त्रियों को साड़ी पहना कर बाहर लाने में कुण्ठित नहीं होते। गाड़ी की एक ही सीट पर दाहिनी ओर हैट, कोट और बाईं

और बम्बई की साड़ी! यदि कोई चित्रकार शिव-पार्वती के सदृश नए बंगाल की आदर्श पति-पत्नी का चित्र खींचे तो वह चित्र यदि "सब्लाइम" न भी हो, तो सब्लाइम का निकटवर्ती कुछ अवश्य ही होगा।

प्रकृति पशु-पक्षियों के जगत में पति-पत्नी की सजावट में बहुधा इतना प्रभेद कर देती है कि दम्पती को एक जाति का समझने के लिये बड़ी अभिज्ञता की आवश्यकता होती है। केसर न रहने के कारण सिंहनी को सिंह की स्त्री समझना कठिन है और कलाप के अभाव में मोर के साथ मोरनी का सम्बन्ध निर्णय करना कठिन है।

यदि प्रकृति बंगाल में भी उसी प्रकार का एक नियम बना देती, यदि स्वामी पंख फैलाकर अपनी सहधर्मिणी पर प्रभाव डाल सकता तो कोई झगड़ा ही न था। किन्तु यदि गृह-स्वामी दूसरे के पर अपने पीछे खोंसकर घर में अनैक्य फैलावे, तो वह घर के लिये केवल दुःख का विषय ही न होगा, वरञ्च दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद भी होगा।

जो हो, कार्य चाहे कितना ही असंगत क्यों न हो, पर जब यह हो चुका है, तब इसका कुछ युक्तियुक्त कारण अवश्य है।

अँगरेजी कपड़ा भद्दा होने से जितना भद्दापन आ जाता है, उतना देशी कपड़े में नहीं आता। इसका एक कारण है। अँगरेजी पोशाक में सरलता नहीं है, उसमें आयोजन और चेष्टा की अधिकता है। यदि अँगरेजी कपड़ा शरीर में चुस्त दुरुस्त न

हो और यदि उसमें शिकन या सिलवट पड़ जाय तो वह शिष्ट लोगों के लिये अपमान का कारण हो जाता है; क्योंकि अँगरेजी कपड़े का प्रधान उद्देश्य है देह में नीचे से ऊपर तक बिलकुल ठीक होना। उसमें देह को छिलके की तरह समेट देने की सयत्न चेष्टा सदा वर्त्तमान रहती है। इसलिए पतलून यदि कुछ छोटा हो और कोट कुछ ऊँचा हो तो अपने मन में ही शरम आती है और आत्म-सम्मान में धक्का लग जाता है। जो इस विषय के न जानने के कारण सुख से निश्चिन्त रहते हैं, उन्हें देखकर दूसरे लज्जित होते हैं।

इस सम्बन्ध में दो बातें हैं। पहली तो यह कि कितने ही लोग कहेंगे कि ठीक दस्तूर और फैशन के मुताबिक़ ही कपड़े पहनने के लिये क्या हमने क़सम खा ली है? यह बात बहुत बड़े आदमियों और स्वाधीन प्रकृति के मनुष्यों की जैसी है। फैशन की गुलामी और दस्तूर की पाबन्दी की इस क्षुद्रता को धिक्कार है। किन्तु यह स्वाधीनता की बात उनके मुँह से अच्छी नहीं लगती जिन्होंने शुरू से ही विलायती ठाठ-बाट की नकल करने के लिये गुलामी का पट्टा सिर से पैर तक लिख रखा है। यदि पाँव अपने हों तो उनके काटने की भी स्वाधीनता है; और यदि अपने ही फैशन के मुताबिक चलें तो उसका उल्लंघन करके भी अपना महत्त्व दिखला सकते हैं। दूसरों की राह पर चलें और उसे कलुषित भी करें, ऐसी वीरता का महत्त्व समझ में नहीं आता।

और दूसरी बात यह है कि बहुतेरे लोग कहते हैं कि ब्राह्मणों के लिये जैसे जनेऊ है, वैसे ही विलायत हो आनेवालों के लिये विलायती कपड़े हैं, उन्हें साम्प्रदायिक लक्षण समझकर अलग रखना चाहिए। किन्तु यह नियम नहीं चलेगा। आरम्भ में ऐसा ही था सही, पर आजकल विना समुद्र पार गए भी बहुत से लोग यह चिह्न धारण करने लगे हैं। हमारे उपजाऊ देश में मलेरिया, हैजा आदि जो बीमारियाँ आई हैं, वे चारो ओर फैले बिना मानती नहीं। विलायती कपड़ों के भी दिन आए हैं। इन्हें देश के किसी प्रान्त से अलग करना किसी के लिए साध्य नहीं है।

दीन भारतवर्ष जिस दिन इंगलैण्ड के उतारे हुए चिथड़ों से भूषित हो कर खड़ा होगा, उस दिन उसकी दीनता कैसी बीभत्स विजातीय मूर्त्ति धारण करेगी! आज जो केवल शोक का देनेवाला है, वह उस दिन क्या ही निष्ठुर हास्यजनक हो जायगा! आज जो स्वल्प वसन की सरल नम्रता से सम्पूर्ण आवृत है, वह उस दिन फटे हुए कोटों के छेदों से पोशाक की हीनता के कारण, क्या ही निर्लज्ज भाव से अधूरा दिखाई देगा! जिस दिन चूना गली* फैलकर सारे भारतवर्ष को ग्रास करने के लिये आवेगी, मैं चाहता हूँ कि उस दिन भारतवर्ष एक पद अग्रसर हो कर अपने ही समुद्र के किनारे, मैले पत-

---

* चूना गली कलकत्ते का एक महल्ला है जहाँ साहब-बने देशी लोग रहते हैं।

लून के फटे छोर से लेकर टूटे टोप के सिरे तक नील समुद्र में डूबकर नारायण की अनन्त निद्रा का अंश प्राप्त करे।

किन्तु यह हुआ सेण्टिमेण्ट (Sentiment) अर्थात् भावुकता। पर यह ऐसे कामकाजी आदमियों की सी बात नहीं कही जा सकती जिनका होश हवास दुरुस्त है। मरेंगे तब भी अपमान नहीं सहेंगे, यह भी सेण्टिमेण्ट ही है। विलायती कपड़े अँगरेजों के जातीय गौरव के चिह्न हैं, इस कारण उन्हें पहन कर हम अपने देश को अपमानित नहीं करेंगे, यह भी सेण्टिमेण्ट है। इन सब सेण्टिमेण्टो में ही देश का यथार्थ बल और गौरव है; धन में नहीं, राजपद में नहीं, डाक्टरी की निपुणता में नहीं, वकालत-बैरिस्टरी की तरक्की करने में नहीं।

मैं समझता हूँ कि इस सेण्टिमेण्ट का कुछ आभास है, इसी से विलायती ठाठबाटवालो ने, बहुत बेजोड़ होने पर भी, अपनी अर्द्धाङ्गिनियों की साड़ियाँ बचा रक्खी हैं।

बहुतेरे पुरुष कर्म्मक्षेत्र में, काम के सुभीते के लिये, भाव के गौरव का गला घोंटने से मुँह नहीं मोड़ते। पर स्त्रियों की मंडली में सुन्दरता और भावुकता की बहुरङ्गी बनावटें आज तक नहीं घुसी हैं। वहाँ भाव-रक्षा के लिये थोड़ी सी जगह है। वहाँ घेरदार गाउन* ने आकर हमारे देशी भाव के बचे खुचे चिह्न को ग्रस नहीं लिया है।

---

* गाउन (Gown)—मेमों की पोशाक।

यदि हम साहबाना ठाठ को ही गौरव की चरम सीमा समझते हों तो स्त्रियों को मेम बनाए बिना उस गौरव का अर्द्ध भाग असम्पूर्ण रह जाता है। जब उन्हें मेम नहीं बनाया, तब साड़ी पहने हुई स्त्री को बाईं ओर, बैठाना डंके की चोट साबित करता है कि हमने जो कुछ किया है, केवल सुभीते के लिये। अहा! अपने घर में और अपनी स्त्रियों की पवित्र देह में हमने भाव की मर्यादा रखी है!

किन्तु हम यह आशङ्का करते हैं कि इनमें से बहुतेरे लोग इस बारे में कुछ कठोर बातें कहेंगे। कहेंगे कि पुरुष के उपयोगी जातीय परिच्छद तुम्हारे पास हैं कहाँ जिन्हें हम पहनें? इसी को कहते हैं—"जले पर नमक छिड़कना"। पहले तो पहनने के समय मनमाने विलायती कपड़े पहन लिये और पीछे यह राग अलापने लगे कि तुम्हारे यहाँ कोई कपड़े ही न थे, इसी से हमें यह स्वांग बनाना पड़ा। दूसरे के कपड़े पहन लिये, इसमें उतना हर्ज नहीं; पर यह कहना सरासर हिमाक़त है कि तुम्हारे यहाँ कपड़े ही न थे।

साहब-बने बंगाली लोग नाक भौं चढ़ाकर कहते हैं कि तुम्हारी जातीय पोशाक पहनने से तो पैर में चपड़तल्ली, घुटने के ऊपर धोती और कंधे पर एक चादर रखनी पड़ेगी। यह हम किसी तरह न पहनेंगे। सुनकर मारे दुःख के चुप रह जाना पड़ता है।

कपड़े के अधीन मनुष्य नहीं है, बल्कि मनुष्य के

अधीन कपड़ा है और इस कारण मोटी धोती और चादर पहनने में कुछ भी लज्जा की बात नहीं है। विद्यासागर* के साथ, केवल विद्यासागर ही नहीं, हमारे बहुत से मोटी चादर ओढ़नेवाले ब्राह्मणों के साथ भी, गौरव और गंभीरता में, विलायत से लौटे हुए एक भी कोट पतलूनधारी की तुलना नहीं हो सकती। एक समय जिन ब्राह्मणों ने भारतवर्ष को सभ्यता के ऊँचे शिखर पर चढ़ा दिया था, उनके वस्त्रों की नितान्त विरलता संसार में विख्यात है। तथापि मैं इन सब बातों पर तर्क करना नहीं चाहता, क्योंकि समय ने पलटा खाया है और उस परिवर्तन के बिल्कुल विपरीत जाने से आत्मरक्षा असम्भव हो जायगी।

अतएव यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि बंगाल में जिस प्रकार धोती-चादर का व्यवहार होता है, वह आज कल के काम-धन्धे और दफ्तर-कचहरियों के लिए उपयोगी नहीं है; पर अचकन और चपकन पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता।

साहबाना ठाठवाले कहते हैं कि वह भी तो विदेशी पोशाक है। कहते तो हैं, पर यह केवल उनका हठ है। तात्पर्य यह कि

---

* विद्यासागर—स्वर्गीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक, शिक्षाप्रचारक और समाज-संशोधक थे। बहुत दिनों तक आप कलकत्ते के राजकीय संस्कृत कालेज के अध्यक्ष थे। आप का स्थापित किया हुआ मेट्रोपोलिटन इन्सटिट्यूट नाम का कालेज आज तक चल रहा है और सैकड़ों छात्र वहाँ शिक्षा पाते हैं।

वे चपकन को विदेशी समझ कर नहीं छोड़ते, बल्कि साहब बनने की विशेष लालसा के कारण उसका परित्याग करते हैं।

यदि चपकन और कोट दोनों उनके निकट बराबर ही न होते और यदि कचहरी जाने और रेलगाड़ी पर चढ़ने के समय दोनों में से एक चुन लेना पड़ता तो ये सब तर्क-वितर्क उठ सकते थे। चपकन तो उनके शरीर ही पर था; वह तो मानों उनकी पैतृक सम्पत्ति ही था। उसे छोड़कर जिस दिन उन्होंने काला कोट पहन कर गले में नेकटाई बाँधी, उस दिन उन्होंने आनन्द और बड़प्पन में फूल कर इस प्रकार का तर्क मन में नहीं उठाया कि पिता ने वह चपकन कहाँ से पाया था।

तर्क उठाना भी तो सहज नहीं है, क्योंकि चपकन का इतिहास ठीक ठीक न वे ही जानते हैं, न मैं ही। इसका कारण यह है कि मुसलमानों के साथ रहन-सहन, वसन-भूषण, साहित्य आदि विषयों में हमारा इतना लेन-देन हो गया है कि इस बात का निर्णय करना कठिन है कि उनमें कितना हमारा और कितना उनका है। चपकन हिन्दू-मुसलमान दोनों की खिचड़ी है। चपकन ने जो अनेक रूप धारण करने के उपरान्त वर्त्तमान रूप धारण किया है, उसमें हिन्दू मुसलमान दोनों ने सहायता की है। आज भी पश्चिम के भिन्न भिन्न राज्यों में विचित्र-विचित्र चपकन देखने में आते हैं। जिस तरह हमारा भारतवर्षीय संगीत मुसलमानों का भी है और हिन्दुओं का भी, उसमें दोनों जातियों

के गुणियों का हाथ है, जिस तरह मुसलमान राज्य-प्रणाली में हिन्दू-मुसलमान दोनो की स्वाधीन एकता थी, उसी तरह चपकनों की विचित्रता केवल मुसलमानों की ही की हुई नहीं है, बल्कि हिन्दुओं की भी है।

ऐसा होना अवश्यम्भावी था, क्योंकि मुसलमान भारतवर्ष के निवासी थे। उनके शिल्प-विलास और नीति-पद्धति के आदर्श भारतवर्ष से अलग रह कर अपनी आदिमता की रक्षा नहीं करते थे; और मुसलमानों ने जिस तरह बल से भारतवर्ष को अपना बना लिया था, उसी तरह भारतवर्ष ने भी स्वाभाविक नियम के अनुसार अपनी विपुलता और निगूढ़ प्राण-शक्ति से मुसलमानों को अपना कर लिया था। चित्रकारी, सूची-शिल्प, दस्तकारी, कपड़े बुनना, मूर्त्ति गढ़ना, धातु की चीजें बनाना, हाथी-दाँत के काम, नाचना-गाना और राज-काज, इनमें से एक भी मुसलमानों के अमल में केवल हिन्दू या मुसलमान का किया नहीं है, दोनों ने साथ बैठकर किया है। उस समय भारतवर्ष का जो बाहरी परदा बन रहा था, उसमें हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष के दाहिने और बाएँ हाथ होकर ताने-बाने बुन रहे थे।

इसलिये जो चपकन को ज़बरदस्ती मुसलमानी कपड़ा साबित करना चाहते हैं, उनसे सिर्फ़ यही कहना पड़ता है कि जब तुम इतने ज़बरदस्त हो, तब सबूत की कोई ज़रूरत नहीं; तुम मजे में कोट पतलून डाँटो और हम अपने मन का दुःख चुपचाप मन में ही रखें

इस समय यदि भारतवर्षीय जाति के नाम से कोई जाति तैयार हो जाय तो उसमें से मुसलमान किसी तरह हटाए नहीं जा सकते। यदि विधाता की कृपा से किसी दिन, हजारों फूट-वैर के रहते भी, हिन्दू लोग एक हो सकें तो हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का एक हो जाना विचित्र न होगा। हिन्दू मुसलमान धर्म में चाहे न मिल सकें, पर राष्ट्र-बंधन में मिल जायँगे। हमारी शिक्षा, हमारी चेष्टा और हमारा महत् स्वार्थ सदा उसी ओर हमें खींच रहा है। इसलिये हमारा जो वेष राष्ट्रीय वेष होगा, वह हिन्दू-मुसलमान दोनों का होगा।

यदि यह बात सच हो कि चपकन, पाजामा केवल मुसलमानों की ही निकाली हुई पोशाक है, तो भी जब यह बात याद आती है कि राजपूत वीरों ने और सिक्ख सरदारों ने भी यही पोशाक पहनी है, राणा प्रताप ने और रणजीतसिंह ने इसी चपकन और पाजामे को पहनकर उन्हें धन्य किया है, तब मिस्टर घोष, वोस, मित्र, चटर्जी, बनर्जी, मुखर्जी आदि के चपकन-पाजामा पहनने में लज्जा का कोई कारण नहीं मालूम होता।

पर सब से जबरदस्त बात यह है कि चपकन पाजामा देखने में बहुत भद्दा है। जब इस भद्देपन पर तर्क आकर ठहरता है, तब चुपचाप रह जाना ही अच्छा है; क्योंकि रुचि-विषयक तर्क की मीमांसा अन्त में प्रायः बाहुबल से ही होती है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर।

(८)

साहित्य में वीरत्व

वीरों का आदर्श—आर्य कवि-गुरु वाल्मीकि ने एक ओर सीता की सृष्टि करके जिस प्रकार सीता का आदर्श दिखलाया है, उसी प्रकार दूसरी ओर रामचन्द्र की सृष्टि करके आर्य-वीर का आदर्श दिखलाया है। सीता में हम आर्य्य-ललना का सौंदर्य, प्रेम, भक्ति और देवत्व देखते हैं और रामचन्द्र में आर्य-संतान का गौरव, पौरुष, वीरता और राजश्री की दिव्य ज्योति देखते हैं। जिस कुल और जाति में आर्य संतान का जन्म होता है, उसी में उसके कुल-तिलक होने और उसी जाति का गौरव बढ़ाने से उसका गौरव होता है। रामचन्द्र में यही गौरव देख पड़ता है। वे रघुकुल-तिलक और क्षत्रिय-राज-प्रधान हैं। उनका यह गौरव दिखलाने के लिये ही वाल्मीकि ने पहले राजा दशरथ का चित्र खींचा है। दशरथ की वीरता और राज्यशासन, प्रभुत्व और यश, मंत्रणा और कौशल, सम्पद् और सुहृदयता, राष्ट्र और दुर्ग, धन और सेना-बल, धर्म-परायणता और तपस्या, विद्या और बुद्धि, सभी का यथार्थ वर्णन करके हमारे सामने चित्र खड़ा कर दिया है। अयोध्या राज्य का सुख, सम्पद् और सौंदर्य देख कर

हम बिलकुल मुग्ध हो जाते हैं। हम जानते हैं कि और कोई दूसरा राजा ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु उसके बाद देखते हैं कि उसकी अपेक्षा भी एक उज्वल तारा उस राजकुल में उदित हुआ। उसका प्रभाव एक ऋषि ने आकर सब को विदित कराया। ऋषि ने ज्ञान-बल से जान लिया था कि रघुकुल में जिस असामान्य वीर का अवतार हुआ है, वह तरुणावस्था में ही आश्रम-पीड़ा और तपोविघ्न को दूर करेगा। जब दशरथ की राजसभा में जाकर विश्वामित्र ने वीर कार्य के लिये रामचन्द्र की प्रार्थना की, तब राम का गौरव हमारे हृदय में उदित हुआ। ऐसे ही नारद के मुख से श्रीकृष्ण का अवतार-गौरव भी विदित हुआ था।

विश्वामित्र वीर कार्य के लिये रामचन्द्र को ले गये। रामचन्द्र ने भी अपार साहस करके उस कठिन काम में जिस वीरता का परिचय दिया था, उसका वर्णन वाल्मीकि कर गये हैं। किन्तु वहाँ उस वीरता का अन्त नहीं हुआ। विश्वामित्र उस वीरत्व-विकाश के स्थान से उन्हें वीरता प्रकाश करने के एक और स्थान में ले गये। जनक की स्वयंवर सभा में बड़े बड़े महावीर महाराज उपस्थित हो कर धनुष तोड़ने में परास्त हो गये थे। उसी कार्य में रामचन्द्र प्रवृत्त हुए। फिर रामचन्द्र ने किस प्रकार अतुल विक्रम के साथ धनुर्भंग करके भारत में यशो-विस्तार के साथ मनगोचरि वीरता का परिचय दिया था, उसे रामायण पढ़नेवाले भली भाँति जानते हैं। किन्तु यह

असामान्य वीरता भी कोई बात नहीं है। उनकी अलौकिक वीरता के परिचय का उससे भी उज्वल एक अन्य क्षेत्र दिखा दिया गया। सीता के साथ राम अयोध्या लौट रहे थे। रास्ते में परशु-राम जी मिले। उन्होंने पृथ्वी को एक प्रकार से क्षत्रियहीन कर दिया था। कार्तवीर्यार्जुन जैसा अतुलनीय वीर भी उनसे हार गया था। किसी क्षत्रिय वीर के तेज को बिना मंद किये परशुराम ने नहीं छोड़ा था। उसी परशुराम ने रामचन्द्र से द्वंद्व-युद्ध की प्रार्थना की। उन्होंने हर-धनुष की अपेक्षा भी एक कठिन धनुष रामचन्द्र को चढ़ाने के लिये दिया। उस धनुष को उन्होंने बड़ी वीरता के साथ और बहुत ही सहज में परशुराम के सामने चढ़ा दिया। ऐसी अद्भुत वीरता का परिचय पाकर परशुराम परम प्रसन्न हुए। मन ही मन उन्होंने जान लिया कि रामचन्द्र वीरता में हमसे भी प्रबल हैं। वे युद्ध करने से विमुख हुए। राम की अद्भुत वीरता देख कर प्रफुल्लित चित्त से दशरथ राम के साथ अयोध्या लौट आये।

वाल्मीकि ने रामचन्द्र की इस प्रकार बाल-वीरता दिखाकर उनकी जीवनी प्रारंभ की। जान पड़ता है, इसी बाल-वीरता को हीन बनाने के लिये व्यास ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला दिखलाई है। कालिदास ने राम का गौरव और बढ़ाने के लिये रघुकुल का वर्णन बहुत पहले से ही आरम्भ किया है। उनके पुत्र रघु ने दिलीप के चरित्र को निष्प्रभ बनाकर किस प्रकार कुल-गौरव बढ़ाया, इसका चित्रण बहुत ही सुन्दर रूप से किया

गया है। रघु इतने यशस्वी हुए कि उनके नाम से वह वंश प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कालिदास ने यहीं समाप्त नहीं किया। उन्होंने आगे यह भी दिखलाया कि रघुकुल में रामचन्द्र ने जन्म लेकर उस कुल को सर्वश्रेष्ठ और अधिक गौरवपूर्ण बना दिया। इसी से रामचन्द्र ने रघुकुल-तिलक कहला कर सभी का यश मिटा डाला। रघु-कुल राम-यश से गौरवान्वित हुआ।

पृथ्वी का अन्य देशीय कोई राजवंश इस प्रकार धारावाहिक क्रम से उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाभ करता गया हो, ऐसा वृत्तान्त हम किसी जाति के इतिहास में नहीं पाते। दिलीप के बाद रघु, रघु के बाद अज, अज के बाद दशरथ और दशरथ के बाद रामचन्द्र से राजकुल अंतिम सीमा को पहुँच गया। कुश, अतिथि, सुदर्शन आदि बाद के जितने राजा हुए हैं, उन्होंने रामचन्द्र की ही श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। कालिदास के द्वारा भी रामचन्द्र का ही गौरव प्रतिष्ठित हुआ है। आर्य साहित्य में इसी प्रकार राजाओं का इतिहास मिलता है। सर वाल्टर स्कॉट स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड के सीमान्त प्रदेशीय राजाओं की रक्त-रंजित वीरता के यशोगान में रोमाञ्चपूर्ण होते थे; और आर्य कवि इस प्रकार के वीर राजाओं के यशोगान में आनन्द-मुग्ध होते थे।

राम का अपरिसीम भुजबल और क्षत्रिय तेज दिखाकर वाल्मीकि ने रामचन्द्र की अन्य प्रकार की वीरता भी दिखलाई है। भुजबल प्रकट करने में और राक्षसों तथा दैत्यों को जीत

में जो चत्रिय वीरता प्रकट होती है, वह बाह्य वीरता है। इस वीरता में पृथ्वी के अनेक दिग्विजयी वीर यशस्वी हुए हैं। किन्तु जिस वीरता में भारत को छोड़ कर समस्त पृथ्वी के वीर रामचन्द्र के सामने परास्त हैं, राम की उस आभ्यंतरिक वीरता को वाल्मीकि ने अब तक नहीं दिखाया था। हम इन दोनों प्रकार की वीरताओं की आलोचना करते हैं।

आसुरिक वीरता—मनुष्य जहाँ पशु की समता में आ जाता है, वहाँ उसकी श्रेष्ठता नहीं कही जाती। मनुष्य जहाँ पशु से भिन्न दिखलाई पड़ता है, वहीं उसका मनुष्यत्व है। पशु जिस प्रकार इन्द्रिय और काम, क्रोध आदि रिपुओं के वशीभूत होता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी उनके वशीभूत होकर पागल हो जाय तो वह पशु ही समझा जाता है। किन्तु यदि वह उन इन्द्रियों तथा सारे रिपुओं पर विजयी हो जाय तो उसको मनुष्य कहेंगे। महाभारत में लिखा है—

"काम क्रोध समायुक्तो हिंसा लोभ समन्वितः।
मनुष्यत्वा परिभ्रष्ट-स्तिर्यग्योनौ प्रसूयते॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ और हिंसा से युक्त मनुष्य मनुष्यत्व से अलग हो कर तिर्यग्योनि में जन्म ग्रहण करता है। तिर्यग्योनि से छुटकारा पाने पर वह मनुष्य-जन्म पाता है।

राजर्षि नहुष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वेदों में जो विषय सूक्ष्म रूप से दिखलाया गया है, वही पौराणिक काव्यों में

स्थूल रूप से दिखलाया गया है। जिसकी कल्पना स्थूल से होती है, जो प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है, अधिकतर उर्स संस्कार हृदय में होता है। इससे महाभारत ने साकार क करके दिखलाया कि राजर्षि नहुप रिपुओं के वश में होने के स्वर्ग से भ्रष्ट होकर सर्प योनि में पैदा हुए। वे स्वर्ग में उ इन्द्राणी को देखते ही कामान्ध हुए। उन्होंने मदान्ध होकर ऋ को वाहक बनाया और अगस्त के शाप से ऐसा दंड भोगा।

मनुष्य के ये शत्रु कितने प्रबल हो सकते हैं, और प्रबल कर उसे कहाँ तक नीचता के गड्ढे में ढकेल सकते हैं, युरोपीय वियोगान्त नाटकों में, और विशेषतः ऐतिहासिक वीरों दिखलाई पड़ता है। यूरोप में ट्रेजेडी का गौरव बढ़ा कर उ पात्रों का भी गौरव बढ़ाया गया है। वे प्रधान पात्र वीर रूप लोगों के मन में बैठे हुए हैं। जो कल्पना में सदा वर्तमान रहते वे कल्पना के मित्र हो जाते हैं। वे क्रमशः गौरवान्वित होकर से भासने लगते हैं। लेडी मैकबेथ लोभ में वीर रमणी है, काम में उथेलो वीर है और कौशल में यागो है। ट्रेजेडी में इसी प्रब की वीरता की प्रतिष्ठा है।

युरोपीय ट्रेजेडी में जिस वीरता की प्रतिष्ठा है, इतिहा में भी उसी वीरता का गौरव है। कामना की प्रबल पिपा से परतन्त्र होकर, लोभ की सर्वग्रासिनी लालसा के वशव यन कर, अहंकार से पृथ्वी को तुच्छ समझ कर और घ

उन्मत्तता में फँस कर जिन रणप्रिय, विजयोल्लासी नर-रूपी दानवों ने पृथ्वी को रक्त से डुबा कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया है, वे ही युरोपीय इतिहास में वीर समझे जाते हैं और सब के आदरणीय बनते हैं। इसी प्रकार के वीर अलेक्जेंडर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, हनीवाल आदि हैं। वे ट्रेजेडी के वीरों की जीवन-प्रतिमा हैं। इन सब ने समय समय पर पृथ्वी में तहलका मचा दिया था। आर्य साहित्य के असुरों ने भी समय समय पर अवतीर्ण होकर काम, क्रोधादि की मूर्ति धारण करते हुए पृथ्वी पर प्रतिष्ठा पाई थी। यह प्रतिष्ठा वैसी ही है जैसी युरोपीय ऐतिहासिक वीरों और ट्रेजेडी के पात्रों की है। इसी से आर्य साहित्य में देखा जाता है कि ये असुर समय समय पर स्वर्ग में भी प्रभुत्व का विस्तार कर देवताओं की प्रतिष्ठा पा चुके थे। किन्तु युरोपीय इतिहास और आर्य साहित्य में बहुत विभेद पाया जाता है। युरोपीय इतिहास और ट्रेजेडी में ये वीर सदा के लिये प्रतिष्ठित और देवोपम हो चुके हैं। आर्य साहित्य में उन वीरों के विक्रम और दर्प चूर्ण, उनके गर्व खर्व, लोभ निवारित, तेज संहृत और प्रभुत्व तथा प्रताप नष्ट कर दिये गये हैं। कृष्ण और राम आदि देवांशधारियों ने उन्हें नीचा दिखला दिया है।

ट्रेजेडी और युरोपीय इतिहास के जो वीर हैं और आर्य साहित्य के जो असुर हैं, वे एक-जातीय वीर हैं। उनके शत्रु बड़े प्रबल हैं। इसी लिये उस प्रकार के एक वीर का इतिहास

लिखने से ही जाति के समस्त वीरों का इतिहास लिखा जायगा। आर्य कवियों ने उन समस्त वीरों को एक कर उनसे एक आदर्श वीर की सृष्टि की है। व्यास के दुर्योधन में ही अनेक युरोपीय वीरों का चित्र चित्रित है। इसी प्रकार रामायण का रावण है। भोग वासना बढ़ कर मनुष्य को किस प्रकार अपने चंगुल में फँसा लेती है, मनुष्य किस प्रकार लोभ के वशवर्ती हो कर दूसरे को सूई की नोक के बराबर भी भूमि देने के लिये तैयार नहीं होता, इसी की प्रतिमा दुर्योधन है। फिर इन्द्रिय-लालसा और काम बढ़ कर किस प्रकार मनुष्य को नाश के पथ में ले जाते हैं, इसी क मूर्तिमान चित्र रावण है। ऐसे ही असुर वीरों के आदर्श चरित्र आर्य साहित्य में चित्रित किये गये हैं। किन्तु चित्रकार उतना ही लिख कर स्थिर नहीं हुए; क्योंकि यदि वे उतना ही लिख कर शान्त हो जाते तो उन वीरों के चरित्र पढ़ने से बड़ा भारी कुफल फलता। सर्वदा पाप-चित्र देखने से कल्पना भी दूषित हो जाती है। इसी लिये आर्य कवियों ने उस प्रकार की आसुरिक वीरता का चित्र खींच कर काव्य में एक ओर रक्खा है और दूसरी ओर दूसरे प्रकार के वीरों का उज्ज्वल चित्र खींचा है। धर्म-वीरों के उज्ज्वल चित्रों ने पशु वीरों को अन्धकार में दबा रक्खा है। इसका फल यह होता है कि कल्पना धर्म भाव से ही परिपूर्ण रहा करती है। महाभारत में केवल दुर्योधन का चरित्र पढ़िये तो आप को युरोपीय वीरों के इतिहास पढ़ने का ही फल होगा। पर साथ

ही समस्त रामायण और महाभारत पढ़ जाइये तो आप की कल्पना कभी दूषित नहीं होगी।

शार्लमेन, अलेक्ज़ेंडर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, फ्रेडरिक, हनीबाल, पञ्चम चार्ल्स, तैमूर, महमूद गजनवी आदि दिग्विजयी वीर थे। आर्य साहित्य में भी दिग्विजयी वीर हैं। रघु, रामचन्द्र, पांडव, कर्ण आदि वीरों का दिग्विजय क्या है? ये दिग्विजय केवल यज्ञपूर्ति के लिये ही हुए थे। रघु का दिग्विजय विश्वजित् यज्ञ के लिये और रामचन्द्र आदि का अश्वमेध के लिये था। पांडवों के दिग्विजय राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के लिये और कर्ण का दिग्विजय दुर्योधन के राजसूय यज्ञ के लिये था। उन्होंने केवल लोभ में पड़कर पृथ्वी पर रक्त-गंगा नहीं बहाई थी। ये दिग्विजय केवल यज्ञ में दान देने के निमित्त धन संग्रह करने के लिये ही हुए थे। पारमार्थिक उद्देश्य के लिये जो संग्रह होता है, वह उतना निन्दनीय नहीं माना जाता।

ब्राह्मण और क्षत्रिय वीरत्व—बिना युद्ध के पुरुषत्व की प्रतिष्ठा और विजय नहीं होती; और बिना विजयी हुए वीरता का विकास नहीं होता। युवावस्था में जब मानसिक शत्रुओं का घोर उत्पात उठ खड़ा होता था, तब जितेन्द्रिय और आत्मसंयमी आर्य उन शत्रुओं पर संग्राम में तपोबल से एकनिष्ठ और एकचित्त होकर विजयी होते थे और उस विजय से उनकी आभ्यान्तरिक वीरता प्रकट होती थी। सामवेद में अन्तर्यद्ध का अनु-

दान करते हुए नारायण के उद्देश्य से पशु-रूपी शत्रुओं के बलिदान की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार के अंतर्बाह्य और आभ्यन्तरिक समर में विजयी बनने से ब्राह्मणों की वीरता प्रकट होती थी।

कहाँ तो रामचन्द्र राजमुकुट धारण करनेवाले थे और कहाँ आज्ञा हुई कि वनवास करो। राजैश्वर्य और राजभोग से रामचन्द्र इतने निस्पृह थे कि तत्क्षण दंडधारी और ब्रह्मचारी बन कर वन चले गये। उन्होंने चौदह वर्ष एकनिष्ट ब्रह्मचारी बन कर ब्राह्मण वीरत्व का चूड़ान्त परिचय दिया था। कोई सुख-भोग उन्हें एक दिन के लिए भी विचलित न कर सका। ब्रह्मचर्य देखना हो तो भीष्म को देखिये। बल और विक्रम में अद्वितीय भीष्मदेव ने यावज्जीवन संयमी होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। चिर-कुमार शुकदेव के ब्रह्मचर्य व्रत में अमानुषिक संयम-बल देख पड़ता है। पुरुष ही तक नहीं, बहुत सी हिन्दू बाल-विधवाएँ भी ब्रह्मचर्यावलंबनपूर्वक महाश्वेता के समान भगवान् को आत्म-समर्पण कर चुकी हैं। यही संयम बल पुरुषत्व और हिन्दू लल-नाओं की महाशक्ति है। रामचन्द्र अपने पौरुष और क्षत्रिय वीर्य को जानते थे, इसी से वे सीता के साथ बहुत दिनों तक वनवास करने में समर्थ हुए थे। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने में जो धैर्य, संयम और सहिष्णुता आवश्यक है, उसके होने और सीता की रक्षा करने में समर्थ होने के कारण ही वे वन में जाने को उद्यत हुए

थे। इसी वनवास से आभ्यन्तरिक बल और क्षत्रिय वीर्य का परिचय मिला था।

रामचन्द्र में केवल ब्राह्मणत्व का ही विकाश नहीं हुआ था। वे क्षत्रिय वीरता में भी प्रधान थे। जैसे आभ्यन्तरिक शत्रुओं के शासन और दमन में ब्राह्मण वीरत्व है, वैसे ही बाह्य शत्रुओं के शासन और दमन में क्षत्रिय वीरत्व है। जब मानसिक शत्रु प्रबल मूर्ति धारण कर रावण और दुर्योधन आदि के रूप में प्रकट होते हैं और पृथ्वी को पीड़ित कर उस पर भार डालते हैं, तब उन्हें समर में परास्त कर विजयी बनना क्षत्रिय वीरत्व है। रामचन्द्र ने अपने पुरुषत्व की रक्षा और भू-भार हरने के लिये रावण के साथ घोर युद्ध किया था और उस युद्ध में विजयी होकर रावण का वध किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने पुरुषत्व की प्रतिष्ठा की थी।

जैसे बहुत से क्षत्रिय राजा ब्राह्मण वीरता में कृतकार्य हो कर राजर्षि कहलाते थे, वैसे ही परशुराम, द्रोण ऐसे बहुत से ब्राह्मण क्षत्रिय वीर्य धारण कर यशस्वी वीर हुए थे। भीष्म ने कहा था कि महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मण के मन्त्र और तपोबल तथा क्षत्रिय के अस्त्र और भुजबल को एक साथ रख कर प्रजापालन करते हैं। महर्षि वशिष्ठ के ब्रह्मबल का अवलम्बन करके वे अपने बाहुबल से अर्जित वसुन्धरा का शासन करते थे। वस्तुतः उस समय भारत में जो हिन्दू राजा राजछत्र धारण करता था, उसे दोनों प्रकार के बल से बली होना पड़ता था।

सनत्कुमार ने कहा था कि जैसे अग्नि और पवन का संयोग होने से सारा वन जल जाता है, वैसे ही यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर मिल जायँ तो सारे शत्रु नष्ट हो जायँ। रामचन्द्र में यही राजादर्श दिखाया गया है। क्या युरोप में ऐसा आदर्श है? रोम के किसी राजा ने सिंहासन छोड़ कर सरल जीवन बिताया था, पर रामचन्द्र के समान राज्याभिषेक होने के समय नहीं। राम के संयम और तपोबल के साथ उसकी तुलना हो ही नहीं सकती।

वीरता में समर और रक्तपान—ब्राह्मण वीरता, क्षत्रिय वीरता या आसुरिक वीरता में, वीरता के अधिकांश स्थानों में रक्तपात अवश्य है। ब्राह्मण वीरता दिखाने के लिये कर्तव्य ने किसी किसी स्थान पर बड़ा भारी संग्राम खड़ा कर दिया है और उसमें रक्तपात भी हुआ है। तपस्या में कर्त्तव्य-बुद्धि का बल और विक्रम देखा जाता है। इसी कर्त्तव्य-पालन में तत्पर होकर शिवि ने बाज के मुख से कबूतर को बचाने का उपाय किया था। उनका तपोबल, कर्त्तव्य-बुद्धि और धर्म-तेज कितना प्रबल था, यह इस कथा में विशद भाव से वर्णित है। जब हम शिवि का चरित्र पढ़ते हैं, तब हम यह नहीं सोचते कि यह झूठा है या सचा; केवल उनकी आत्मबलि, तपस्या, कर्त्तव्य-बुद्धि और धर्मबल ही देखते हैं। इसी से हमारी कल्पना पूर्ण हो जाती है, विचार शक्ति भूल जाती है। काव्य-कल्पना के ऐसे ऐन्द्रजालिक प्रभाव का अनुभव युरोपीय कवि नहीं कर

सकते। आर्य चरित्र में धर्मतेज कितना उच्च हो सकता है, आर्य वीरता किस सीमा तक पहुँच सकती है, इसकी कल्पना तक विला-यती कवि नहीं कर सकते। इसी से शेक्सपियर उत्तम दृष्टांत पाकर भी इतनी महत्ता को नहीं पहुँच सके। इसी से जब बाज रूपी शाइलाक ने सेर भर मांस माँगा, तो कवि रक्तपात नहीं करा सके। ऐसा क्यो नहीं किया? क्योंकि प्रारम्भ में वे काव्यकल्पना में धर्मराग का समावेश नहीं करा सके थे। उन्होंने जो कल्पना की थी, उसमें यदि मांस काटा जाता तो भी आत्मबलि नहीं होता। इसी से उन्होंने पोर्शिया को दूसरे रूप में उपस्थित किया और रङ्ग-रहस्य करके रसपूर्ण काव्य-कल्पना की समाप्ति की।

रक्तपात देखना हो तो परशुराम की मातृहत्या में देखिये। वे मातृहत्या में क्यों प्रवृत्त हुए? पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये। आर्य शास्त्रों में दो प्रकार का कर्त्तव्योपदेश है—एक शास्त्रादेश और दूसरा गुरुजनादेश। जब तक शास्त्र ज्ञान में पैठ न हो, तब तक गुरुजनों का आदेश ही कर्त्तव्य समझना चाहिए। पिता-माता की आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। परशुराम ने ऐसा ही किया था। दाशरथि राम और पांडवों ने भी उसका पालन किया था। उसी पित्रादेश का महत्व दिखलाने के लिये परशुराम ने मातृहत्या कर डाली! वे ब्राह्मण तेज के अवतार थे। जैसे परशुराम ब्राह्मण तेज के अवतार थे, वैसे राम क्षत्रिय तेज के अवतार थे। ब्राह्मण तेज की वीरता आभ्यन्तरिक समर

में है और क्षत्रिय वीर्य की प्रधानता बाह्य समर में है। इसी से परशुराम बाहरी समर में रामचन्द्र से बिना युद्ध के ही परास्त हो गये।

वीर का प्रतिज्ञा-बल—आर्य अपनी रक्षा के लिये जिसे कर्त्तव्य समझते थे, दृढ़प्रतिज्ञ होकर उस संकल्प की सिद्धि करते थे। मनुष्यत्व का इस प्रकार निदर्शन ब्राह्मण और क्षत्रिय के प्रतिज्ञा-बल से होता था। आर्य साहित्य में ऐसे मनुष्यत्व के कार्य्यों के अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। प्रतिज्ञा-पालन ही मनुष्य का मनुष्यत्व और वीरों का वीरत्व है। ब्राह्मण कर्त्तव्य-पालन से कभी पराङ्मुख नहीं होते थे। परशुराम पितृभक्ति से प्रेरित होकर पितृवध के प्रतिशोध के लिये जिस प्रतिज्ञा-पाश मे बँधे हुए थे, उस प्रतिज्ञा का पालन कर क्षत्रिय रुधिर से उन्होंने पिता का तर्पण किया था। प्रतिज्ञा करने से क्या नहीं होता? सीता के उद्धार के लिये रामचन्द्र ने प्रतिज्ञा कर कौन सा असाध्य साधन नहीं किया था? भीष्म ने पिता के संतोष के वास्ते दृढ़-प्रतिज्ञ होकर सदा के लिये भोग-सुख और राज-सिंहासन छोड़कर ब्रह्मचर्य का पालन किया था। कर्ण ने अर्जुन-वध की जो प्रतिज्ञा की थी, उससे पांडव काँप उठे थे। कर्ण उस कठिन प्रतिज्ञा पर आरूढ़ हो कर ब्रह्मास्त्र के लिए द्रोण से अपमानित हुए थे और महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के पास गये थे। वहाँ उन्होंने पूर्ण अध्यवसाय से उनकी सेवा शुश्रूषा करके बड़े कष्ट से वह परमास्त्र प्राप्त किया था। इधर

कर्ण-वध की प्रतिज्ञा करके अर्जुन भी स्वर्गलोक और मर्त्यलोक में घूम घाम कर अस्त्रविद्या में पारदर्शी हो आये थे। अभिमन्यु-वध के उपरांत सूर्यास्त होने के पहले ही जयद्रथ-वध के लिये अर्जुन ने जो भयङ्कर प्रतिज्ञा की थी, उसे सुन कर कृष्ण तक काँप उठे थे। उस भीषण प्रतिज्ञा के कारण कुरु-शिविर में घोर रण के लिये बहुत बड़ा आयोजन हुआ था। दुःशासन का रुधिर पीने मे भीम का प्रतिज्ञा-बल प्रकट होता है। धृष्टद्युम्न की प्रतिज्ञा से द्रोण का पतन हुआ। द्रोण के पतन से अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा पूरी हुई। किस प्रकार के वीभत्स व्यापार से पांचालों को मार कर अश्वत्थामा ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी, इसका वर्णन महाभारत मे दिया हुआ है। प्रतिज्ञाबद्ध हंसध्वज ने अपने पुत्र सुधन्वा को गरम तेल में डाल दिया था। यद्यपि इन प्रतिज्ञाओं में रक्तपात हुआ था, तथापि मानुपी प्रतिज्ञा किस प्रकार बलवती होती है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। वीरों की ऐसी प्रतिज्ञा का प्रभाव जब तक रहता है, तब तक देश सुरक्षित रहता है। इसी प्रतिज्ञा-बल से मनुष्य का मनुष्यत्व और वीरो का वीरत्व है।

महाकाव्य की वीरता—आर्य साहित्य सब प्रकार की वीरताओं के आदर्शों से परिपूर्ण है। महाभारत और रामायण को ही लीजिए। उनके समस्त चित्रो को यदि पूर्ण रूप से चित्रित किया जाय तो रामायण और महाभारत से भी विशाल एक ग्रंथ बन जायगा। महाभारत ही वीर रस से लबालब भरा है।

आर्य साहित्य में जिस प्रकार प्रेम की मधुरता है, उसी प्रकार वीरता की भी तेजस्विता है। प्रेम की नदी सरस्वती के समान शान्त रूप से बहती है और वीरता की तरंगिणी ब्रह्मपुत्र की धारा के समान गरजती हुई बहती है। भवभूति और कालिदास में सुन्दर प्रेम की लहरें लहराती हैं। वाल्मीकि और व्यास में वीरता का प्रवाह बड़े वेग से होता है—वीर रस की उत्ताल तरंगें उठती हैं। कुरुक्षेत्र के महासमर में वीर रस की उन्मत्तता देख पड़ती है।

त्रिविध वीरता—वीरता में त्रिविध गति है। मनुष्य में कभी पशु की सी उन्मत्तता और वीरता देख पड़ती है, कभी उसकी वीरता देवता की सी ही होती है और कभी उस वीरता में मनुष्यत्व का विकास पाया जाता है। जब मनुष्य के शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, उसका लोभ पृथ्वी का भी नाश करने के लिये उद्यत होता है, उसका काम निष्कलंक सती को भी कलंकित करने पर उतारू होता है, उसके दर्प से पृथ्वी भी कंपित होती है, उसके रोष से दसों दिशाएँ जलती हैं और उसके क्रोध की तलवार पृथ्वी को रक्त से डुबा देती है, तभी मनुष्य की पशुवत् वीरता प्रकट होती है; और जब मनुष्य उच्च गुणों से वीर होता है, जब विश्व-प्रेम और दया से दानवीर होता है, जब बलि के समान सारी पृथ्वी को भी दान करके सन्तुष्ट नहीं होता, जब रघु के समान मुक्त हस्त से कुबेर के भांडार के समान अपने भांडार का वितरण

करता है, जब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के तुल्य दान, धर्म और दया की पराकाष्ठा दिखाता है, जब द्रौपदी के समान क्षमा गुण से भूषित होकर पाँच पुत्रों को मारनेवाले अश्वत्थामा ऐसे अपराधी को क्षमा करता है, जब अपने आश्रित पर शिवि के समान दया दिखलाता है और अपने शरीर की भी उपेक्षा करता है, जब भीष्म के समान अपने चिरजीवन को अपने ब्रह्मचर्य व्रत में निरत रखता है, जब स्वधर्म-ज्ञान से उदार मन कर दुर्योधन के समान अपने शत्रुओं को भी इच्छित वस्तु देने में आगा-पीछा नहीं करता और जब कर्ण के समान अपना जीवन-सर्वस्व दे सकता है, तभी मनुष्य में देवोचित वीरता का प्रकाश होता है। और जब मनुष्य सत्य-पालन में प्रतिज्ञारूढ़ होता है, जब स्वधर्म, कुल, मान और मर्यादा की रक्षा के लिये शत्रुकुल का ध्वंस करता है, जब धर्मार्थ पृथ्वी का भार मोचन किया जाता है, ब्राह्मणों की आश्रम-पीड़ा छुड़ाने के लिये दैत्यों का संहार किया जाता है, तब प्रजारंजन के निमित्त प्रिय पत्नी को भी छोड़ने में संकोच नहीं किया जाता।

युद्धार्थ चाहे कोई क्यों न उपस्थित हो, अपने धर्म के नियमानुसार युद्ध-दान दिया जाता है। जब स्वधर्मानुसार स्वदेश और स्वधर्म-रक्षा के लिये बभ्रुवाहन के समान पिता के साथ भी घोर संग्राम होता है और जब कर्तव्य तथा स्वधर्मरक्षा का गौरव वीरता का आश्रय लेता है, तब मनुष्योचित वीरता का विकास होता है। [illegible] स्वदेशरक्षा के लिए

उद्यत Martyr और Patriot इस प्रकार की मनुष्योचित वीरता के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। वे युरोपीय साहित्य के गौरव हैं।

आर्य वीरता की विशेषता—किन्तु युरोपीय वीरों के मुक़ाबले में आर्य वीरों की विशेषता कहाँ है? व्यास ने एक स्थान पर इसका विशद वर्णन किया है। हमने युरोपीय इतिहास में गृह-युद्ध का बहुत वर्णन पढ़ा है। किन्तु किसी युद्ध में किसी वीर को अर्जुन के समान समर के समय हृदय-वेदना से अस्त्र-शस्त्र छोड़ कर विमुख होते हुए नहीं देखा। अर्जुन ने युद्ध में आकर देखा कि सामने भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन विद्यमान हैं। अर्जुन की श्रद्धा, भक्ति आदि प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठीं। उन्होंने फिर देखा कि वे सब के सब युद्ध के लिये प्रस्तुत हैं। क्षत्रिय का यह धर्म है कि जो युद्ध के लिये सामने आवे, उसी के साथ युद्ध करे। इससे अर्जुन के हृदय में घोर क्षोभ उठ खड़ा हुआ। बाहरी युद्ध में प्रवृत्त होने के पहले भीतरी युद्ध में विजय लाभ करना पड़ता है। ऐसी उन्मत्तता के समय पृथ्वी के किस वीर के हृदय में ऐसी वेदना उठी होगी और वह भारी असमंज में पड़ा होगा? क्या इस घटना से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पहले आर्य वीर किस उच्च शिक्षा से शिक्षित होते थे? क्या वे केवल बाहरी युद्ध के लिये शिक्षित होते थे? उनका आभ्यन्तरिक तपोबल कहाँ से आता था? वे किस बल से जितेन्द्रिय होते थे? भुजबल की वृद्धि के साथ उनके प्रेम, भक्ति

और श्रद्धा का अनुशीलन भी बढ़ता था। बाहरी शत्रुओं को परास्त करने के लिये वे जिस युद्ध विद्या में पारङ्गत होते थे, उसी के साथ हृदय-शत्रु और पाप-प्रवृत्तियों को भी विजय करना सीखते थे। अस्त्र, बल और युद्ध-कौशल से वे जैसे असुरों का संहार करना सीखते थे, वैसे शम, दम आदि से आन्तरिक पशु-बल को भी दबाते थे। जो वीर ऐसे युद्धों में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे वीरों में गिने जाने योग्य होते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ, उनके भीतरी शत्रु ज्यों के त्यों बने रहे, तो उनके बाहरी शत्रुओं पर विजय पाने का फल क्या हुआ? उनके लिये सुख और शान्ति कहाँ? सारी पृथ्वी भी यदि उनके हाथ में हो तो भी वे दुःखी बने रहेंगे। पृथ्वी में उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती।

(साहित्य-मीमांसा)

कबीर की प्रेम-साधना

कबीर के पूर्व रामानुज के समय से आचारी संप्रदाय चल
था। वैष्णव-संप्रदाय के आचारी अधिक आचार मान कर चलते
उनमें आचार का बंधन बहुत अधिक था। उदाहरणार्थ यदि भो
के समय किसी की दृष्टि पड़ती, तो उनका भोजन बंद हो जात
जो प्रथम अनाचारी हुए, वे थे गुरु रामानन्द। किसी किसी के
से वे रामानुज से पाँच पीढ़ी अर्थात् पाँच गुरुओं के पश्चात्
थे। आचार के संबंध में राघवानन्द के साथ उनका विरोध था

जब रामानन्द उक्त दल छोड़ कर निकल आये, तब रामानुज
संप्रदाय में राघवानन्द अप्रतिद्वन्द्वी नेता हो गए।

रामानन्द के सभी प्रधान शिष्य अंत्यज थे। उस सम
नारियाँ हीन दृष्टि से देखी जाती थीं। पर उन्होंने उनको
शिष्या बनाया था। नारियों में रामानन्द की एक शिष्या पद्मावत
नाम की थीं। वह हम लोगों को एक वस्तु दे गई है जिसका को
मूल्य ही नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उनकी एक और शिष्य
का नाम क्षेमश्री था। वह जाति की ग्वालिन थीं।

कबीर भी गुरु रामानन्द के एक अन्त्यज शिष्य थे। वहा

जाता है कि एक दिन कबीर अंधकार में स्नान-मार्ग पर लेटे हुए थे। कबीर के शरीर मे रामानंद का पैर लग गया। इससे रामानन्द 'राम राम' कह उठे। कबीर बोले—'अब आप मेरे गुरु हुए।' इस प्रकार कबीर के साथ उनका परिचय हुआ। रामानन्द के ७२ अप्रधान शिष्यों में प्रायः ५६ हीन जाति के अथवा अन्त्यज थे। प्रधान शिष्यों मे अधिकांश अत्यन्त नीच और पतित जाति के लोग थे।

कबीर संन्यासी भी थे और गृहस्थ भी। वे कहते थे—संसार और संन्यासी में प्राचीर के समान कोई व्यवधान नहीं है। जो संसारी हैं, वे संन्यासी भी होंगे। यही उनका मत था। वे कहते थे—कहैं कबीर अस उद्यम कीजै। आप जियै औरन को दीजै। अर्थात् तुम्हें इतना श्रम करना आवश्यक है कि तुम स्वयं जीवन धारण कर सको और दो-चार का पालन पोषण हो।

यही कारण है कि कबीर कपड़े बुनकर जीवन-पर्यन्त जीविका उपार्जन करते रहे। वे संन्यासी थे, फिर भी उन्होंने विवाह किया। शत्रु उनकी निन्दा करने लगे। कहने लगे—अच्छा, विवाह तो किया है, पर उन्हें संतान तो होगी नहीं। पर जब उन्हें संतान हुई तब शत्रुओं को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने कहा—डूबा वंश कबीर का जो उपजा पूत कमाल। अर्थात् कमाल के जन्म लेने से कबीर का वंश, अर्थात् गुरु-शिष्य के क्रम से संन्यासी के संप्रदाय की जो धारा है, वह छिन्न हो गई।

पर शत्रुओं को यह ज्ञान नहीं था कि जिस दिन उनके सन्तान

होगी, उस दिन वे सबसे अधिक प्रसन्न होंगे। उस दिन वे बाज में सूत खरीदने के लिए गये थे। निन्दक लोग रास्ते पर भीड़ जम करके उनकी हँसी करने के लिए खड़े हुए थे। कबीर कपड़े बेच कर, सूत का बोझ सिर पर रक्खे घर लौट रहे थे। मार्ग में लोग की भीड़ देख कर अवाक् रह गये। उन्होंने बड़े आनन्द के साथ कहा—कबीर, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है। उन्होंने सोचा था कि कबीर यह सुनकर लज्जित होंगे। परन्तु कबीर ने प्रसन्न होकर सिर के सूत का बोझ उतार कर पद्य में छः पंक्तियों का उच्चारण किया। नवजात मानव-शिशु के सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन और भी कहीं किया गया है, यह ज्ञात नहीं। टेनिसन ने 'डीफंडिस' नाम की जो कविता लिखी है, वह इसकी अपेक्षा बहुत बड़ी है; पर वे इतना इतना विस्तार करके भी इतना गंभीर भाव नहीं दिखला सके और मानव-जीवन के रहस्य को इतना स्पष्ट नहीं कर सके। पर वही बात कबीर ने अनायास कह डाली। सुनिये—

अनहद मुसाफिर पहुना आया धरो मङ्गल धार।
घर आँगन की कदर भई है राह होने गुलजार॥
जनम मास में कदम तुम्हारा अनस भए हम काल।
मेरे घट में डेरा लगाया पाया हमहुँ कमाल॥
कौन सी सेवा करिहौं तुम्हरी कौन करिहौं पूजा।
पन्थ पन्थी घर एकहि है जी भाव भिया अरु दूजा॥

अर्थात् मेरा पुत्र असीम का यात्री है। असीम यात्रा क

साधन करने के लिए वह दो-चार दिन के लिए मेरे घर पर अतिथि हो कर आया है। उसकी अभ्यर्थना करने के लिए मङ्गल-कार्य का थाल सजा कर रक्खो। आज मेरा घर, मेरा आँगन अर्थात् आज मेरा घर और बाहर—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—सार्थक हो रहा है। यह छोटा सा यात्री अपने यात्रा-पथ को पुपालंकृत करके मेरे घर आया है। हे असीम के यात्री मेरे पुत्र, जन्म और मृत्यु तुम्हारी असीम यात्रा का एक एक पैर उठाना और एक एक पैर रखना है। जन्म और मृत्यु में तुम पैर उठा कर, चल रहे हो। तुम्हारे समीप काल ने हार मान ली है। आज जो तुमने मेरे घर में आश्रय लिया है, मैं उस कमाल अर्थात् परिपूर्णता को प्राप्त हो गया हूँ। कहो, मैं तुम्हारी कौनसी सेवा करूँ। और सेवा है क्या? तुम्हारी कौन सी सेवा करके मैं धन्य होऊँगा? आज मेरा सब द्वैत भाव मिट गया। आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, जो असीम लक्ष्य होकर विराजमान हैं, वे ही असीम के यात्री होकर उसी लक्ष्य की साधना के लिए यात्रा कर रहे हैं और उन्होंने पथ होकर असीम-यात्री को असीम लक्ष्य की ओर उपनीत कर दिया है। विरोधी चुप होकर चले गये। इस कमाल को पाकर, इस पूर्णता को प्राप्त करने से ही उनके पुत्र का नाम 'कमाल' हुआ है। इसके पश्चात् जब उन्हें कन्या हुई, तब उन्होंने उसका नाम रक्खा 'कमाली'।

कबीर ने भगवान को अपना गुरु मान लिया था। वे कहते थे—मैं असीम का सन्देश लाया हूँ। गुरु रामानन्द ने मुझे

चैतन्य किया है, परन्तु मेरे गुरु तो केवल भगवान् हैं—

प्यास अनहद था साथ लाया रामानन्द चेताये।

'असीम की तृष्णा लेकर मैं इस जगत में आया हूँ। रामानन्द ने मेरी चेतना को जाग्रत कर दिया है। मैं जिस तृष्णा के कारण व्याकुल हो रहा था, उसे मैं स्वयं न जान सकता था। वह तृष्णा असीम की तृष्णा है। जन्म और मरण में मैं केवल इसी तृष्णा के सूत्र को पकडे हुए हूँ—मैं इसे सर्वथा भूल ही गया था। जिन्होंने चेतना दी, वे गुरु रामानन्द हैं और सतगुरु हैं स्वयं भगवान्। उन्होंने असीम की इस तृष्णा को जाग्रत किया है। वे प्रति दिन मेरे इस बन्धन का काम करके अपनी ओर अग्रसर कर रहे हैं। उसके उपलक्ष में रामानन्द हमारे गुरु हैं।

एक धर्मतत्त्वज्ञ दार्शनिक ने कबीर से उनकी साधना के संबंध में जिज्ञासा की—क्या आप अपनी साधना का मार्ग मुझे दिखा सकते हैं?

कबीर ने कहा—मैंने तो मार्ग नहीं देखा। रात अँधेरी थी। उनकी बाँसुरी का स्वर केवल कान में आ रहा था। जब मेरा मन उदास हो गया, तब क्या मुझे मार्ग की खोज-खबर रह सकती था? मैं तो स्वर सुन कर पागल के समान चल पड़ा था।

उन्होंने पूछा—आप के गुरु कौन हैं? कबीर ने गाया—

रैन अँधेरी रही कारी बादल से,
डगरा मोहे कौन दिखाई।
ठाढ़ी कोई देखत अपने आँगन से,
जिन्हें कभी बाँसुरी भुलाई।
डगरा मोहे कौन दिखाई।
डर नाहिं कुच्छो, डगरा नाहीं पुच्छो,
बाँसुरी सुनत कबिरा बढ़ जाई।
डगरा मोहे कौन दिखाई।
आजि बलम बुलावत अनहद के पार से,
कौन बेसरम आज तोर साथ जाई।
डगरा मोहे कौन दिखाई॥

'मार्ग मैं नहीं जानता। उस बाँसुरी के स्वर ने जब मुझे रास्ते पर ला कर खडा कर दिया, तब मेघाच्छन्न गंभीर रात्रि थी। मेरे भयभीत प्राण केवल पुकारने लगे—'मुझे कौन रास्ता दिखावेगा?'

"जिन समस्त पूर्व भक्तों ने बाँसुरी सुनी थी और जो बाँसुरी सुन कर निकल पड़े थे, वे अपने आँगन में दरवाजे खोल कर खड़े हुए थे। मैंने पूछा—क्या कोई मुझे मार्ग दिखा देगा? उन्होंने कहा—जिन्होंने तुम्हें और हमें बाँसुरी के स्वर से पुकारा है, वही तुम्हें रास्ता बतावेंगे। मार्ग मत पूछो। बाँसुरी सुन कर निकल पडो। सीधे रास्ते चले जाओ। जीवन-वल्लभ अंधकार के उस पार से आज तुम्हें पुकार रहे हैं। प्रेम के

मिलन दिवस में तुम्हारे साथ आज उनका गंभीर मिलन होगा। ऐसा कौन निर्लज्ज होगा जब कि आज तुम अपने प्रियतम के पास जा रहे हो, तब तुम्हारे साथ रास्ता दिखाने के लिए वहाँ जाय ?"

"आज की रात्रि मेघाच्छन्न और अंधकारपूर्ण है। बाँसुरी के स्वर में वे पुकार रहे हैं। वे दिन में प्रकाश डाल कर पुकारते, परन्तु वे रात्रि में पुकार रहे हैं। रास्ता नहीं दिखाई पड़ेगा, केवल बाँसुरी सुन कर निर्जन अंधकार में, उनके प्रेम-स्वरूप के भीतर डूबना पड़ेगा। जो गुरु हैं, वे इसी तरह मार्ग दिखा रहे हैं। रामानन्द ने मेरे मन के भीतर केवल इसी भाव को सचेतन कर दिया है।"

इसके पश्चात् उस दार्शनिक पंडित से कबीर की बहस हुई। कबीर के प्रेम-संबन्ध मे प्रसंग वश यह उल्लेख योग्य बहस है। इसी प्रसंग में कबीर ने कहा कि प्रेम देकर ही भगवान् की साधना की जायगी। पंडित ने प्रश्न किया—प्रेम देकर जिनकी तुम साधना करोगे, उनका स्वरूप क्या है ? उनका निवास कहाँ है ? उनका प्रकाश कैसा है ? कबीर ने कहा—

ऐसा लो नहि तैसा लो। मैं केहि बिधि कहौं गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जग मय लागै बाहर कहूँ तो झूठा लो॥
बाहर भीतर सकल निरन्तर चित्त अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट न अगोचर बात न कही जाई लो॥

'वे किसी एक जगह पर हैं, ऐसा सोचने से भूल होगी।

यदि कहा जाय कि वे ऐसे हैं, वे वैसे हैं, तो भी भूल होगी। वे कैसे हैं, यह मैं तुम्हें किस तरह किस बात से समझाऊँ ? यह बड़ी गम्भीर बात है। यदि मैं कहूँ कि वे अन्दर हैं तो बाहर का जगत लज्जा से मर जायगा। जैसे यदि कोई स्त्री अपने स्वामी को न पहचाने तो उसके लिये लज्जा की और कौन दूसरी बात हो सकती है ? उसी प्रकार वे यदि कहें कि बाहर के जगत मे मैं नहीं हूँ, तो इतना विराट् ब्रह्माण्ड पल भर भी किस लज्जा से जीवित रहेगा ? यदि कहें कि वे बाहर हैं तो हमारी अन्तरात्मा लज्जित होगी; और यह बात भी मिथ्या होगी। वे बाहर और भीतर सकल स्थल में निरन्तर विराजमान हैं। बाहर और अन्दर अचेतन और सचेतन उनके पादपीठ हैं। वे दर्शनीय हैं, यह भी नहीं कह सकते। और वे अप्रकाशित हैं, यह बात भी वे न कह सके। और वे अप्रकाशित हैं, अगोचर हैं, आदि वाक्यों द्वारा यह समझाना असम्भव है। उन्हे बाहर के आचार-अनुष्ठान मे नहीं पाते, यह भी नहीं कहते। उन्हे पाते हैं, यह बात भी नहीं कहते।'

उन्होंने यह कथन स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया है। मानो जल से भरा हुआ घड़ा पानी के भीतर रक्खा हुआ है। अर्थात् उसके भीतर भी पानी है और बाहर भी पानी है। इसी प्रकार वे बाहर और भीतर विराजमान हैं।

जल भरा कुम्भ जलै बीच धरिया बाहर सोई।
उनका नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होई॥

'वे बाहर भी हैं—भीतर भी हैं। यदि वे सभी वस्तुओं प्रकाशित हैं तो वे स्वतन्त्र होकर प्रकाशित क्यों नहीं हैं ? वे बा और भीतर दोनों स्थानों को पूर्ण किए हुए हैं। यही कारण है भिन्न समझ कर मैं उन्हें नहीं जानता। वे विश्व की आत्मा है विश्व के जीवनेश्वर हैं। यही कारण है कि उनका नाम नहीं है यदि कोई उनका नामकरण करता है तो वे हमसे भिन्न हो जा हैं। मनुष्य नाम लेकर दूसरे को पुकारता है; अपने को तो को नाम लेकर नहीं पुकारता। जैसे स्त्री अपने स्वामी का नाम नहीं लेती, नाम लेने से स्वामी स्त्री से भिन्न हो जाते हैं। किन्तु स्त्री और स्वामी एक हैं, यही कारण है कि वह स्वामी का नाम नहीं लेती। वे विश्वनाथ हैं। विश्व यदि उनका नाम ले तो वे मानों विश्व से भिन्न हो जाते हैं। क्या वे बाहर की एक भिन्न वस्तु हैं ?

उनका नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होई॥

पण्डित ने कबीर से कहा—'इस सम्बन्ध में आपने जो तत्त्व अपने हृदय में प्रत्यक्ष किया है, उसे आप सब लोगों को क्यों नहीं समझाते ?' उन्होंने उत्तर दिया—इस प्रकार धर्म-प्रचार करना मेरा काम नहीं है। हाथ में पानी का घड़ा लेकर जोर से 'पानी पीयो', 'पानी पीयो' पुकार कर कहने से किसी का उपकार नहीं होगा।

पानी प्यावन का फिरो घर घर सागर वारि।
तृषावन्त जो होयगा पीवेगा भख मारि॥

और इस प्रकार पानी के लिए घूमने की जरूरत ही क्या है ? प्रत्येक के अंतर में अनंत रस का सागर है। जिस दिन परमात्मा के लिए तृष्णा उत्पन्न होगी, उस दिन अपने हृदय के अमृत-रस को तृष्णा का अधिकारी होकर—'पीवेगा झख मारि।'

तृष्णा उत्पन्न करो, अन्तर में तृष्णा उत्पन्न करो। जिस दिन प्रेम उत्पन्न होगा, उसी दिन तृष्णा पैदा होगी। प्रेम जाग्रत करो। यह प्रेम जिस दिन जाग्रत होगा, उस दिन सच्चा वैराग्य आवेगा और संसार के प्रति जो राग है, वह नहीं रहेगा। कबीर ने संसार में प्रेम से परिपूर्ण होकर रहने के लिए कहा है। उन्होंने कहा है कि संसार मेरे बाप का घर है; ब्रह्मधाम स्वामी का निवास-स्थान है। स्वामी के घर से प्रेम करना होगा और बाप के घर से द्वेष रखना होगा—उसे छोड़ना होगा—ऐसी बात न सोचो। यह संसार-मात्र उनको जानता है। स्वामी के घर गये बिना जिस प्रकार नारी का जीवन सार्थक नहीं होगा, उसी प्रकार बिना परमात्मा को जाने जीवात्मा की कोई सार्थकता नहीं है। जिस दिन से स्वामी को पहिचाना, उस दिन से बाप के सकल आकर्षणों को छोड़ दिया, उनसे कोई द्वेष नहीं रहा, घृणा नहीं रही। यह केवल प्रेम के ही बल से। इसी प्रेम को जाग्रत करो। इस प्रेम के बल से ही बालिका माता होती है। एक छोटी सी बालिका जो संध्या से ही सो जाती थी, आज, माता हो कर, रात द्रो पहर जाने पर भी बिना सोये बैठी हुई है। क्यों ?: इसी लिए कि

उसका बच्चा नहीं सो रहा है। भगवान् ने यह प्रेम सब में दिया है। उन्होंने बालिका को केवल माता बना दिया है, कोई उपदेश नहीं दिया। इसके सिवा बच्चे की धाय को सैकड़ों बातें समझाने पर भी अनेक बातें बाकी रह जाती हैं और पद पद पर उसकी सेवा में त्रुटि हो जाया करती है। माता को विधाता केवल प्रेम देकर ही निश्चिन्त हैं। उन्हें उसे कुछ भी नहीं सिखाना पड़ा। भगवान ने अपने भावी साधक शिशुओं को घर घर माता की गोद में रख दिया है। उनको कुछ नहीं दिया, रसद नहीं पहुँचाई। उन्होंने केवल माता के हृदय में पवित्र प्रेम दिया। इस प्रेम के बल से क्या माता अपना सब सुख त्याग कर सकेगी? स्वामी के लिये उसने अपना शरीर तक तो प्रेम के बल से ही जला दिया है।

सती को कौन सिखावत है, सङ्ग स्वामी के तन जराना जी।
प्रेम कौन सिखावत है, त्याग माहिं भोग का पाना जी॥

'विधाता सती को प्रेम देकर निश्चिन्त हैं। स्वामी के लिए उसको जल मरना पड़ता है, यह शिक्षा उसको किसने दी है? त्याग के द्वारा ही भोग को पाना होगा, प्रेम की यह शिक्षा किसने दी?'

केवल एक पंक्ति में कबीर ने प्रेम की एक परिपूर्ण परिभाषा की है। प्रेम क्या है? यही न—"त्याग में भोग का पाना।" प्रेम का आनन्द—वह त्याग भी करता और भोग भी पाता है। उसने कुछ भी नहीं छोड़ा—उसने सब कुछ पाया है।

त्याग से परमानन्द मिलता है। यह कितना गंभीर है, यह केवल वही वैरागी जानता है जिसने वैराग्य के द्वारा प्रेम को गंभीर और मधुर बनाकर भोग किया है। भगवान इस वैरागी प्रेम के रहस्य को जानते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार उनका प्रेम-प्रवाह बह रहा है, उसी प्रकार वे सर्वत्र वैराग्य से परिपूर्ण हैं।

(सरस्वती, नवम्बर १९२६)

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्या के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से घुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्या का

प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौन रूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म्म सारे जगत का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा-बाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर पुरुष इसकी सुगंध-मय अटल वसंत ऋतु के आनन्द का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री भाव फूट पड़ता है। सूर्य्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास-पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौन रूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी

अर्थवती और इतनी प्रभावशालिनी होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह तुम्हारे हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मंद मंद हँसी का—तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुस कर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात् श्रीकेशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है, परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबा डुबा कर और उनको अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे, परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जाएँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत की भिन्न भिन्न जातियों से संस्कृत भाषा न बुलवा सके, उन्हें न समझा सके,

न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है
ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आ
रण के कान में गुरु-मंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि
अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय करा सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय
परंतु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आँधी से उसके सि
के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प
की कोमल पंखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय, जल की
शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जाय, बर्फ के दर्शन
से पवित्रता आ जाय, सूर्य्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ, परन्तु
अँगरेज़ी भाषा का व्याख्यान (चाहे वह कारलायल ही का लिखा
हुआ क्यों न हो) बनारस के पण्डितों के लिए राम-रौला ही है।
इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों
के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के
लिये स्टीम इञ्जिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।
यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा
कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव
पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव
तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर
गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परन्तु उनका
प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा

होता है, मंदिर का पुजारा स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ—तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश में, किस जाति में, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण, क्या पशु और क्या मनुष्य, जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्य-हीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक बार एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। उसका घोड़ा मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने

से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस वत्त के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो तीन बच्चे रहते थे किसान शिकारी राजा को अपनी झोंपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रक्खा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गई! अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म की मौन व्याख्या को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परन्तु राजा के अंतस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य्य की कलम लगा दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक

रमाणु मिल गया, तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन ाच्छा नहीं ? क्या जङ्गल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के याख्यानों से, मनुष्य का जीवन शनैः शनैः नया रूप धारण नहीं करता ? शिकारी ने जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया। उसको त्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मेठास के आचरण का विकास होता है ! इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में, पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है—उस पर भली भाँति कुंदन करती है ! जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-सम्बन्धी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते ? नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदास जी यदि कृष्णार्पण किये गये अपने हृदय को एक वार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में प्रेम का वह मौन व्याख्यान—आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता ? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता ? यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती, तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी

कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले बुरे विचार अमीरी-गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी की पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत में हो रहा है, वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त न रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकार-मय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो, तब तक धर्म के गूढ़ तत्व कैसे समझ में आ सकते हैं? नेत्र-रहित को सूर्य्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों

से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम की ?

जगत के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया के पटल से बंद हैं— और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव— वे आचरण—जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे-फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित करा सकते हैं। तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख मे पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चरित शब्द सुनता है, हम में कहाँ है ? जब वही नहीं है, तब फिर क्यों न ये संप्रदाय

हमारे मानसिक महाभारतों का कुरुक्षेत्र बनें ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें ? कोई धर्म-संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्त्तमान है, उन सब का—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा ? आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं, उन सब को आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सब को एक पथ नहीं बता सकता। आचरण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया; उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे में नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक

चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार राम की प्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न सही। ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ, तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न सही। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूँ, तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान नहीं तो न रहे। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महा-भयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता, तब तक यदि वह मेरी और तुम्हारी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है, तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो, बरफ हो, बिजली की कड़क हो, समुद्र का तूफान हो, वह दिन-रात आँखें खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है; अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बैठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्व का है ?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ; न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सब से प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या ? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठ प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगत में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता। हाँ, यदी मुझे कोई धोखा दे तो उस से मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न हो रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है; कमर के लिए एक लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। मेरे हाथ-पाँव बलवान् हैं; मेरा शरीर नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिए खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतार कर मखमल के गद्दों पर लेटा दिया, जब आलस्य और विषय विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ़

इवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया, तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया, वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु वह धर्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता। मठों और गिरजों की मंद मंद टिमटिमाती हुई मोम-बत्तियों की रोशनी से युरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश-देशांतरों को ढूँढते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज्य करने के बिना मंद नहीं पड़ती, केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिनहुड की प्रशंसा में इँगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं, उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिनहुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेल्सन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई

के आज-कल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देख कर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि युरोप के समुद्रों में जङ्गी जहाज मच्छियों की तरह न फैल जाते और युरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता, तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रक्खा है, युरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये युरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक चंदा देकर भी सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ युरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीनेपन और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहाँ दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसके वायु और प्रकाश में वह खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक

है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों के सदा कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि समुद्र का सारा जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का कहीं एक कण हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या एक जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाये बिना, सारी प्रकृति को हवा में उड़ाये बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना, उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छान कर आचरण का स्वर्ग हाथ आता है। क्या बैठे-बैठाये भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्बन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता, तो उनके वर्त्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—उनमें भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम का जीवन देख देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों के पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है

क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर वे मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में युरोप में लोग असभ्य थे; परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! इसका कारण केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना भी जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ; योगसिद्धि द्वारा सूर्य्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परन्तु अब तक न संसार ही की न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो कि भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ!

लेखक का तात्पर्य यही है कि आचरण केवल मन के

स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिसकर बनता है; उसके फूल तो सूर्य्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारंबार भीग कर और सूख कर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते? पीछे मुड़ मुड़कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुम में से हर एक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही, अपने आपकी परीक्षा करो!

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती, तो आजकल भारत-निवासी सूर्य्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता, गङ्गा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र मे तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक

शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियों से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है, तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं होती। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है, और न वहाँ कोई ऊँचा या न नीचा ही है। वहाँ न कोई धनवान् है और न कोई निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्ध देव ने स्वयं अपने हाथों से हाफ़िज शीराजी का सीना उलट कर उसे मौन आचरण का दर्शन कराया, उस समय फारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गये।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन

आचरण को नंगा किया, तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था? जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंक कर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराये, तो हिंदू चकित हो गये कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था? हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हर एक पदार्थ को परमाणुओं में परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना और अपने आपको एकत्र करना ही अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की, चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्, चाहे राजा हो चाहे किसान, चाहे रोगी हो चाहे नीरोग, हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है। जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप तथा रंग अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है"। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है, उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी सब पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती

है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जह ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं। चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, वे स्वय पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिए अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

पूर्णसिंह।

(११)

एक दुराशा

नारङ्गी के रस में जाफरानी वसन्ती बूटी छान कर शिवम्भु शर्म्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की वागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदें भर रहा था। हाथ-पाँवों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूल अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्म्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनियाँ में।

अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। धुन-रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार बार अमृत ढालने लगा—

चलो गोइयाँ आज खेलैं होली कन्हैया घर।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देख कर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाला को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ

ही ख्याल आया कि फागुन सुदी है, वसन्त के विकास का समय है; वह होली क्यों न गावे ? इसमें तो गानेवाले की नहीं विधि की भूल है जिसने वसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती। कहाँ भादों की सी अँधियारी है; वर्षा की झड़ी लगी हुई है! ओह ! कैसा ऋतु-विपर्यय है।

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का विचार जी में आया। होली-खेलैया कहते हैं कि चलो, आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन ? व्रज के राजकुमार। और खेलनेवाले कौन ? उनकी प्रजा ग्वाल-बाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और चौंका दिया कि ऐं ! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा प्रजा मिल कर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्र-वर्ग सहित अबीर-गुलाल की झोलियाँ भरे रंग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ ? राजा दूर सात समुद्र पार है। राजा का केवल नाम सुना है। न राजा को शिवशंभु ने देखा, न राजा ने शिवशंभु को। खैर राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि तो भारत में भेजा है। कृष्ण द्वारिका ही में हैं; पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर व्रजवासियों

को संतोष देने के लिये ब्रज मे भेजा है। क्या उस राज-प्रतिनिधि के घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता ?

ओफ! यह विचार वैसा ही वेतुका है, जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी! पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है ? वह तो समय समझ कर ही गा रहा था। यदि वसंत में वर्षा की झड़ी लगे तो गानेवाले को क्यों मलार गाना चाहिए ? सचमुच वड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते! राजा हैं, राज-प्रतिनिधि हैं, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं! सूर्य्य है, धूप नहीं! चन्द्र है, चाँदनी नहीं! माई लार्ड नगर ही में हैं, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक प्रजा की वात नहीं पहुँच सकती, बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती। जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घण्टा भी नहीं लगाया जिसकी जंजीर वाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके। न आगे को लगाने की आशा है। प्रजा की बोली वह नहीं समझता, उसकी बोली प्रजा नहीं समझती। प्रजा के मन का भाव न वह समझता है, न समझना चाहता है। उसके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है, न समझने का कोई उपाय है। उसके दर्शन दुर्लभ हैं। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी कभी वहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से

इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूज के चाँद के उदय का १
समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द्र व
उदय के लिये कोई समय भी नियत नहीं। अच्छा जिस प्रकार इ
देश के निवासी माई लार्ड का चन्द्रानन देखने को टकटकी लगाये
रहते हैं या जैसे शिवशम्भु शर्म्मा के जी में अपने देश के माई लार्ड
से होली खेलने की आई, उस प्रकार क्या कभी माई लार्ड को भी
इस देश के लोगों की सुध आती होगी? क्या कभी श्रीमान् का जी
होता होगा कि अपनी प्रजा में, जिसके दंड मुंड के विधाता होकर
आये हैं, किसी एक आदमी से मिल कर उसके मन की बात पूछें
या कुछ आमोद प्रमोद की बातें करके उसके मन को टटोलें?
माई लार्ड को ड्यूटी का ध्यान दिलाना सूर्य्य को दीपक दिखाना
है। वह स्वयं श्रीमुख से कह चुके हैं कि ड्यूटी मे बँधा हुआ मैं
इस देश मे फिर आया। यह देश मुझे बहुत ही प्यारा है। इससे
ड्यूटी और प्यार की बात श्रीमान् के कथन से ही तय हो जाती
है। उसमे किसी प्रकार की हुज्जत उठाने की जरूरत नहीं।
तथापि यह प्रश्न आप से आप जी में उठता है कि इस देश की
प्रजा से माई लार्ड का परिचय होना और प्रजा के लोगों की बात
जानना भी उस ड्यूटी की सीमा तक पहुँचता है या नहीं? यदि
पहुँचता है तो क्या श्रीमान् बता सकते हैं कि अपने छ साल के
लम्बे शासन में इस देश की प्रजा को क्या जाना और उससे
क्या सम्बन्ध उत्पन्न किया? जो पहरेदार सिर पर फेंटा बाँधे,

हाथ में सङ्गीनदार बन्दूक लिये, काठ के पुतले की भाँति गवर्नमेन्ट हौस के द्वार हर दण्डायमान रहते हैं या छाया की मूर्ति की भाँति जरा इधर उधर हिलते जुलते दिखाई देते हैं, कभी उनसे भूले-भटके आपने पूछा है कि कैसी गुजरती है ? किसी काले प्यादे, चपरासी या खानसामाँ आदि से कभी आपने पूछा कि कैसे रहते हो ? तुम्हारे देश की क्या चाल-ढाल है ? तुम्हारे देश के लोग हमारे राज्य को कैसा समझते हैं ? क्या इन नीचे दरजे के नौकर-चाकरों को कभी माई लार्ड के श्रीमुख से निकले हुए अमृत-रूपी वचनों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ? या खाली पेड़ों पर बैठी चिड़ियों का शब्द ही उनके कानों तक पहुँच कर रह गया ? क्या कभी सैर तमाशे में टहलने के समय या किसी एकान्त स्थान में इस देश के किसी आदमी से कुछ बातें करने का अवसर मिला ? अथवा इस देश के प्रतिष्ठित बेगरज आदमी को अपने घर पर बुला कर इस देश के लोगों के सच्चे विचार जानने की चेष्टा की ? अथवा कभी विदेश या रियासतों के दौरे में उन लोगों के सिवा, जो झुक झुक कर लम्बी सलामें करने आये हों, किसी सच्चे और बेपरवाह आदमी से कुछ पूछने या कहने का कष्ट किया ? सुनते हैं कि कलकत्ते में श्रीमान् ने कोना कोना देख डाला। भारत में कोई जगह देखे बिना नहीं छोड़ी। बहुतों का ऐसा ही विचार था। पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की सभा में चैंसलर का जामा पहन कर माई लार्ड ने जो अभिज्ञता प्रकट

की, उससे स्पष्ट हो गया कि जिन आँखों से श्रीमान् ने देखा, उनमें इस देश की बातें ठीक ठीक देखने की शक्ति न थी।

सारे भारत की बात जाय, इस कलकत्ते ही में देखने की इतनी बातें हैं कि केवल उनको भली भाँति देख लेने से भारतवर्ष की बहुत सी बातों का ज्ञान हो सकता है। माई लार्ड के शासन के छः साल हालवेल के स्मारक मे लाठ बनवाने, ब्लैक होल का पता लगाने, अक्टरलोनी की लाठ को मैदान से उठवा कर वहाँ विक्टोरिया मेमोरियल हाल बनवाने, गवर्नमेन्ट हौस के आस पास अच्छी रोशनी, अच्छे फूट पाथ और अच्छी सड़कों का प्रबन्ध करने में बीत गये। दूसरा दौर भी वैसे ही कामों में बीत रहा है। सम्भव है कि उसमे भी श्रीमान् के दिल-पसन्द अँगरेजी मुहल्लों में कुछ और बड़ी बड़ी सड़कें निकल जायँ और गवर्नमेन्ट हौस की तरफ स्वर्ग की सीमा और बढ़ जाय। पर नगर जैसा अँधेरे में था, वैसा ही रहा, क्योंकि उसकी असली दशा देखने के लिये और ही प्रकार की आँखों की जरूरत है। जब तक वह आँखें न होंगी, यह अन्धेर यों ही चला जायगा। यदि किसी दिन शिवशम्भु शर्म्मा के साथ माई लार्ड नगर की दशा देखने चलते तो वह देखते कि इस महानगरी की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भाँति सड़े गन्दे झोंपड़ों में पड़ी लोटती है। उनके आस पास सड़ी बदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर चारो ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरो पर मैले कुचैले फटे चिथड़े लिपटे हुए हैं।

उनमें से बहुतों को आजीवन पेट भर अन्न और शरीर ढाँकने को कपड़ा नहीं मिलता। जाड़ों में सर्दी से अकड़ कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहाँ तहाँ पड़े फिरते हैं। बरसात में सड़े सीले घरों मे भीगे पड़े रहते हैं। सारांश यह कि हरेक ऋतु की तीव्रता में सब से आगे मृत्यु के पथ का वही अनुगमन करते हैं। एक मौत ही है जो उनकी दशा पर दया करके उन्हे जीवन रूपी रोग के कष्ट से छुड़ाती है।

परन्तु क्या इनसे भी बढ़ कर और दृश्य नहीं है? हाँ हैं। पर जरा और स्थिरता से देखने के हैं। बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपने सूँड़ से नहीं उठा सकता; उसके लिये च्यूँटी की जिह्वा दरकार है। इसी कलकत्ते में, इसी इमारतो के नगर में माई लार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे हैं जिन के रहने को सड़ा झोंपड़ा भी नहीं है। गलियो और सड़कों पर घूमते घूमते जहाँ जगह देखते हैं, वहीं पड़ रहते हैं। पहरेवाला आकर डंडा लगाता है तो सरक कर दूसरी जगह जा पड़ते हैं। बीमार होते हैं तो सड़को ही पर पडे पाँव पीट कर मर जाते हैं। कभी आग जला कर खुले मैदान में पड़े रहते हैं; कभी हलवाइयों की भट्ठियो से चिमट कर रात काट देते हैं। नित्य इनकी दो चार लाशें जहाँ तहाँ से पड़ी हुई पुलिस उठाती है। भला माई लार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे। दिल्ली दरबार मे भी, जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई देते

थे; परन्तु उनकी ओर देखनेवाला कोई न था। यदि माई लार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते तो पूछने की जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटिजन हैं या नहीं ? यदि हैं तो कृपा-पूर्वक पता लगाइये कि उनके रहने के स्थान कहाँ हैं और ब्रिटिश राज्य से उनका क्या नाता है ? क्या कह कर वह अपने राजा और उसके प्रतिनिधि को संबोधन करें ? किन शब्दों में ब्रिटिश राज्य को असीस दें ? क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्मभूमि में एक उंगल भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीर को फटे चिथड़े भी न जुड़े और न कभी पापी पेट को पूरा अन्न मिला, उस राज्य की जय हो ? उसका राज-प्रतिनिधि हाथियों का जुलूस निकाल कर सब से बड़े हाथी पर चँवर छत्र लगा कर निकले और स्वदेश में जाकर प्रजा के सुखी होने का डंका बजावे ?

इस देश में करोड़ों प्रजा ऐसी है जिसके लोग जब संध्या सवेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं तो महाराज के विषय की चर्चा करते हैं और उन राजा-महाराजाओं की गुणावली वर्णन करते हैं जो प्रजा का दुःख मिटाने और उनके अभावों का पता लगाने के लिये रातो को वेष बदल कर निकला करते थे। अकबर के प्रजा-पालन और बीरबल के लोकरंजन की कहा-नियाँ कह कर वह जी बहलाते हैं और समझते हैं कि न्याय और सुख का समय बीत गया। अब वे राजा संसार में उत्पन्न नहीं होते जो प्रजा के सुख दुःख की बातें उनके घरों में

आते थे। महारानी विक्टोरिया को वह अवश्य जानते हैं कि वह महारानी थी; अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देश के प्रभु हुए हैं। उनको इस बात की खबर तक नहीं कि उनके प्रभु के कोई प्रतिनिधि हैं; और वही इस देश के शासन के मालिक होते हैं तथा कभी कभी इस देश की तीस करोड़ प्रजा का शासन करने का घमंड भी करते हैं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशंभु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा प्रजा के मिल कर होली खेलने का समय गया। जो बाकी था, वह काश्मीर नरेश महाराज रणवीरसिंह के साथ समाप्त हो गया। इस देश में उस समय के फिर लौटने की जल्दी आशा नहीं। साथ ही किसी राजपुरुप का भी ऐसा सौभाग्य नहीं है जो यहाँ की प्रजा का .अकिंचन प्रेम प्राप्त करने की परवा करे। माई लार्ड अपने शासन-काल का सुन्दर से सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखवा सकते हैं। वह प्रजा के प्रेम की क्या परवा करेंगे। तो भी इतना संदेह भंगड़ शिवशंभु शर्म्मा अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आप के द्वार पर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना।

(शिवशम्भु का चिट्ठा

(१२)

काव्य और करुणा

परंपरा से कवियों को, विशेष कर युरोपीय कवियों को, कुछ छूत सी लगी रही है कि वे अपनी कविता के अतिरिक्त 'कविता की कसौटी' भी संसार को देने का प्रयत्न करते हैं, जिससे बहुधा दो रूपों में साहित्य को लाभ हुआ है। एक तो यह कि पाठक समझ लेते हैं कि अमुक कवि की विचार-प्रणाली क्या है और दूसरा यह कि कवि किसे काव्य कहता है। परन्तु इस प्रकार की कसौटी से संसार के साहित्य को बड़ी क्षति भी पहुँची है। इससे न तो पाठक स्वतन्त्र रूप से काव्य ही पढ़ सकता है और न उसका स्वाद ही ले सकता है। यदि कवि अपने लिये ही काव्य-रचना करे, तो उसे पूर्ण अधिकार है कि जिस कसौटी पर चाहे, अपने काव्य को कसे और अपने आप प्रसन्न हो ले। परन्तु यदि वह अपने सन्तोष के अतिरिक्त संसार-मंच के दर्शकों को भी अपनी करतूत दिखलाना ठीक समझता है और उनसे करतल-ध्वनि की अभिलाषा करता है तो उसे यह कभी न कहना चाहिए कि अमुक काव्य है, अमुक नहीं। यह तो ठीक वही बात है कि सोनार अँगूठी बना कर लावे और कहे कि यही अँगूठी सर्वोत्तम है। हाँ, कभी कभी

सोनार भी ठीक निर्णय कर लेता है; क्योंकि यह उसका व्यवसार है, वह नित्य हजारों अँगूठियाँ देखा करता है। यदि वह स्वार्थ से प्रेरित न हो और अपना स्वतंत्र विचार प्रकट करे तो बहुत सम्भव है कि उसका कथन यथार्थ हो। ठीक यही दशा कवि की भी है यदि वह गाल बजाने से दूर हट कर सत्य भाषण पर तुल जाए तो सम्भव है कि वह संसार को सर्वोत्तम कसौटी प्रदान कर सके। किन्तु इतने निःस्वार्थ कितने हैं, यह सभी लोग भले प्रकार जानते हैं। इसी लिए उक्त कसौटी को अलग कर यह देखना चाहिए कि वास्तव मे हमें क्या रुचता है।

किन्तु यहाँ भी प्रश्न यही उठता है कि कवि कौन है और वास्तविक काव्य किसे कहते हैं? वह कौन सी बात है जिसके बिना काव्य केवल तुकबन्दी ही रह जाता है और वह कौन सी दिव्य ज्योति है जो कालिदास, शेक्सपियर, यूरुपिडीज आदि को जगमगाया करती है और जिसके द्वारा वे काव्य इतिहास मे अमर हो गये हैं? लोगो का कहना है कि संसार में रोना गाना किसे नहीं आता। किन्तु वास्तविक रोना वही है जो सारे संसार को रुला दे और वास्तविक गाना वही है जो उस समय के लिए सर्व संसार की वास्तविक स्थिति को भुला दे। तुकबन्दी तो सभी कर लेते हैं। विचारणीय बात तो यह है कि काव्य में कौन सी मुख्य बातें हैं जो किसी वास्तविक काव्य में होती हैं। प्रायः प्रत्येक काव्य में दो अंग होते हैं। एक तो भाव और दूसरा भाव-प्रदर्शन।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भाव ही प्रत्येक काव्य का मूल अङ्ग है। काव्य के इतिहास में, भारत से कुछ दूर, दीर्घ काल तक इसी बात पर झगड़ा होता रहा कि कविता केवल पद्य में हो सकती है। एक पक्ष को तो यही यथार्थ जान पड़ता था, किन्तु दूसरा पक्ष यह कहता था कि पद्य तो केवल भाव-प्रदर्शन का रूप है; अथवा वर्डस्वर्थ के शब्दों में वास्तविक काव्य पद्य में भी लिखा जा सकता है और गद्य में भी। वस्तुतः बात भी यही जान पड़ती है। मनुष्य को विमोहित करनेवाला काव्य केवल अपने रूप द्वारा उत्तम नहीं दिखाई देता, किन्तु अपने विषय द्वारा ही चित्त को आकर्षित किया करता है। इस जटिल प्रश्न की ठीक कसौटी तो इस प्रकार सहज में ही मिल सकती है कि किसी काव्य की कोई पद्य-पंक्ति लेकर उसका गद्य में रूपांतर करें। यदि वह उतनी ही मनोहर रह जाय तो स्वतन्त्र रूप से कहा जा सकता है कि काव्य गद्य में भी लिखा जा सकता है और पद्य में भी। उदाहरण के लिए यहाँ हम 'सनेही' की चार पंक्तियों को गद्य में रूपान्तरित करते हैं—

मुग्ध मन-मृग वीन-बानी पर हुआ ,
सुर लगे प्यारे हृदय को प्रान से।
बाँध ले यों ही बधिक बँधुआ बना ,
मारता है किस लिए विष-बान से ॥

रूपान्तर करने पर ये इस प्रकार हो जाती हैं—मन-मृग

दीन-धानी पर मुग्ध हुआ, सुर हृदय को प्राण से प्यारे लगे, वधिक यों ही बँधुआ बना, बाँध ले, किस लिए विप-बाण से मारता है ?

ऊपर के उदाहरण से यह भले प्रकार प्रतीत हो जाता है कि उसमें अर्थ और मनोहरता दोनों पूर्ववत् विद्यमान हैं। हाँ, इतना अवश्य है की कोई रचना पद्य-बद्ध होने से पढ़नेवालों को उसमे विशेष आनन्द आता है। अतएव यह कह देना कि कविता केवल पद्य-बद्ध पंक्तियों में ही हो सकती है, सर्वथा निर्मूल है। अँग्रेज मर्मज्ञों का तो यह कथन है कि संसार में सब से उत्तम कविता बाइबिल में है, जो गद्य में लिखी गई है। संस्कृत साहित्य मे भी कादंबरी को काव्य में ही स्थान दिया गया है।

काव्य का दूसरा अंग भाव-प्रदर्शन है, जो बहुधा लोग पद्य में ही किया करते हैं। मनुष्य अथवा प्राणी-मात्र की गाने की ओर सदा से रुचि रही है। लोगो का तो यह कहना है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में बाँसुरी की तान सुनाई देती है। यही कारण है कि मनुष्य गाने की ओर अधिक झुका रहता है। यही कारण है कि प्रारंभ की रचनाएँ प्रायः पद्य-मय ही प्राप्त हैं। यहाँ तक कि इनके कठिन और नीरस अमरकोष को भी पद्य का सहारा लेना पड़ा। और यह केवल इसी लिये कि पद्यमय रचना कर्णप्रिय होती है। इसके सिवा उसका स्मरण रखना भी बहुत सरल होता है। पर यह पद्यमयता काव्य नहीं, उसका तो मुख्य अंग विषय है।

किसी ने ठीक ही कहा है—भाव अनूठा चाहिए, भाषा जैसी होय। वास्तव में भाव ही काव्य का प्राण है। यदि भाव में उत्तमता नहीं, यदि भाव बाजारू है और उसमें वह गुण विद्यमान नहीं जो हृदय को झंकारित कर दे, तो वह चाहे कालिदास द्वारा ही क्यों न प्रदर्शित किया गया हो, दो कौड़ी का है। यही कारण है कि बड़े से बड़े कवि की भी सभी कविताएँ उत्तम नहीं होतीं।

अब यह जानना आवश्यक है कि कौन से भाव अत्युत्तम हैं, जिनके द्वारा कवि पाठक के हृदय को अपनी तान पर नचा देता है। वास्तव में कविता कवि के हृदय के विचारों का ही प्रदर्शन मात्र है। संसार-मंच पर खेल कूद कर, रो-हँस कर वह एक ऐसे प्रकार का ज्ञान सीख जाता है जिससे वह किसी ऊँची अट्टालिका पर बैठा हुआ बड़े बड़े खिलाड़ियों की करतूतें गा गा कर सुनाया करता है, यदा कदा अट्टहास अथवा महारुदन कर दिया करता है जो अन्य खिलाड़ियों के ध्यान को आकर्षित कर लिया करते हैं। शेली का यह कथन है कि कवि संसार के सब से बड़े गुरु अथवा पैगम्बर हैं जो जब-तब पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं और संसार के मनुष्यों को दिव्य ज्योति दिखला जाते हैं। यह अधिकांश में ठीक है। कवि को सदा यही चिन्ता रहती है कि मनुष्य सत्य-मार्ग पर चले। किन्तु ऐसे कवि कौन हैं? कवि के सत्य नाम को वही अपनावेंगे जिनकी आत्मा अमर-गीत गाकर उसके और अन्य आत्माओं को सुना

सके। कवि के हृदय में नाना प्रकार के विचार भरे रहते हैं। जब कभी हृदय फूटने लगता है, तब कुछ दीर्घ साँस संसार की ओर चल पड़ती हैं, जो संसार को विह्वल कर देती है। सूर ने अंधे होने से पूर्व ही संसार के विकराल मुख को देख लिया था। अंत में आँखें भी उसी को समर्पित कर दीं। फिर भी हृदय वेचारा भग्न हो चला। चिल्ला उठा—

अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल।

वास्तव में यह नाच बड़ा भयङ्कर नाच है, जो जन्म से मृत्यु पर्य्यन्त एक क्षण के लिए भी छुट्टी नहीं देता। बेचारा चिल्ला कर कहता है कि परमात्मन्, अब तो दया करो, बहुत नाच चुका। यह वही अमर गीत है जिसकी तान प्रत्येक आत्मा सुन सकती है। इसी प्रकार शेक्सपियर भी संसार में बड़ी दौड़ लगा कर जब कुछ भी करने में न सफल हुआ, तब कह उठा—

Like flies to wanton boy.
So are we to gods.
They kill us for sports.

अर्थात् हम लोगों की स्थिति देवताओं के सम्बन्ध में वही है जो तितलियों की लड़कों के सम्बन्ध में है। लड़के अपने खेल के लिए उनका वध करते हैं। मनुष्य की परिस्थिति का कैसा वास्तविक चित्र खींचा है! कितनी निःसहायता है! नासिरी ने प्रेम तथा वियोग का कितना उत्तम चित्र खींच दिया है। वह घबरा कर कहता है—

इशरत है शबे गम में तारों पे नजर करना।
जल जल के फना होना मर मर के सहर करना ॥

वास्तव में प्रेमी तथा तारों के जल जल कर फना होने में कितनी समानता है! यह गीत है, जो सदा से गाया जाता है और गाया जायगा। कहने का तात्पर्य यह कि कवि की कुल कविताएँ उसी के जीवन की झलक और उसी के विह्वल हृदय का प्रतिबिम्ब है। तर्क्की ने ठीक कहा है—'दिल का द्याना फूटा होता। काश यह तारा टूटा होता'। कवि का मन्तव्य तभी पूरा होता है जब वह अपनी तथा अपने पाठकों की दशा एक कर दे।

कविताएं अनुपम मानी जाती हैं। उर्दू की कविता मे तो अधिकतर रोना ही रोना देख पड़ता है। किन्तु उसमें तथा हिन्दी साहित्य में एक विशेषता है, जो बहुधा युरोपीय साहित्य मे नहीं मिलती। वह है भक्ति-रस अथवा मआर्फत। आज भी सूर और तुलसी को प्रत्येक के हृदय में स्थान प्राप्त है। कारण यह है कि इन लोगों की रचनाएँ भक्ति रस से पूर्ण हैं। पद्माकर को चाहे कोई जाने या न जाने, विहारी के दोहे किसी को स्मरण हों या नहीं, किन्तु तुलसी की चौपाइयाँ और सूर के पद विरला ही हिन्दी-प्रेमी होगा जिसे एक आध न याद हों। कारण क्या है ? यही कि जहाँ पद्माकर के कवित्त अथवा विहारी के दोहे सब के हृदय-पटल को खोल तक न सके, वहाँ सूर के की गीत अमर-गीत होने के कारण भीतर घुसे अपना रङ्ग जमाये बैठे हैं। भक्ति के अतिरिक्त करुण रस भी एक ऐसा रस है जिसका आदर प्रत्येक भापा के साहित्य मे है। आशय यह है कि इन्हीं दोनों रसों द्वारा वास्तविक काव्य पाठकों को मिला करता है। कारण प्रत्यक्ष ही है। यदि आत्मा वाह्य माया-पाश से न छूट पाई हो और सदा इसी लोक मे विहार करती हो तो वह दूसरी आत्मा को उस लोक का गीत कदापि नहीं सुना सकती। इसका यह अर्थ नहीं है कि शृङ्गार आदि रसो की कविताएँ हो ही नहीं सकतीं; किन्तु बात यह है कि शृङ्गार आदि रसों की कविता में वह विशेपता आ ही नहीं सकती, जो करुण तथा भक्ति रस में मिला करती है। उदाहरण के लिए यदि शृंगार तथा करुण-रस

दोनों की कविताएँ आमने सामने रख ली जायँ तो यह जान पड़ेगा कि करुण रस की कविता की गूँज में किसी पारलौकिक रागिनी के स्वर हैं, जिसके लिए शृंगार-रस सदा तरसता रहता है। पद्माकर की एक कविता लीजिए—

जाहि न चाह कहू रति की,
सो कछू पति को पतियान लगी है।
त्यों पद्माकर आनन में रुचि,
कानन भौंहैं कमान लगी है।
देती तिया न छुवै छतियाँ,
वतियान में तो मुसुकान लगी है।
पीतम पान खवाइवे को,
परजंक के पास लौं जान लगी है॥

कौन नहीं जानता कि यह कविता पाठकों के हृदय में गुदगुदी उत्पन्न कर देती है। वास्तव में इसमें एक भोली बालिका का *अनूठा चित्र खींचा गया है*। परन्तु इसमें वह दमक कहाँ जो मीरा के नीचे लिखे पद में मिलती है—

तलफ तलफ कर बहु दिन बीते, पड़ी विरह की फाँसड़ियाँ।
अब तो वेग दया कर साहिब मैं हूँ तेरी दासड़ियाँ॥

यह ठीक है कि इसमें वह भाषा-लालित्य नहीं है जो पद्माकर में है, किन्तु यह भी ठीक है कि यदि पद्माकर इस रस में कविता लिखने बैठते तो संभव था कि आज उनका आदर साहित्य में

सौगुना अधिक होता। इतना होने पर भी मीरा के पद कं
झनक प्रत्येक के हृदय में 'तलफ' उत्पन्न कर देती है। ठीक इसं
का प्रतिबिम्ब उर्दू में मिलता है। गालिब ने अपने माशूक कं
तेरछी आँखों की तारीफ में लिखा है—

> कोई मेरे दिल से पूछे तेरे तीरे नीमकश को।
> यह खलिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता॥

यह अतिशयोक्ति नहीं कि इन शेरों में गालिब ने एक जीतं
जागती तसवीर खड़ी कर दी है। किन्तु वह दिव्य राग कहाँ
जो प्रेमी अलापता है और सारे संसार को रुला देता है! इकबाल
के एक शेर—

> सिर्फ शमाए लहद मुर्दा है महफिल मेरी।
> आह ऐ रात बड़ी दूर है मंजिल मेरी॥

में वह चीत्कार है जो चलते पथिक की वास्तविकता की सच्चं
झलक दिखा देता है। यह सफर वास्तव में बहुत लम्बा है
जिसका छोर मिलना बड़ा दुष्कर है।

अँग्रेजी में शृंगार रस की कविताएँ बहुत लिखी गई हैं, किन्
उनका साहित्य में उतना आदर नहीं है जितना करुण रस की कवित
का। करुण-रस के कारण ही शेली को वह स्थान मिला है जो प्राय
इतनी जल्दी किसी और कवि को नहीं मिल सकता। यहाँ प्रसंग
वश दो छोटी कविताएँ दोनों रसों की दे देना आवश्यक है। बायरन
की एक छोटी कविता है, जो अपने ढंग की अनूठी है—

She walks in beauty, like the night,
Of cloudless climes and starry skies!
And all that's best of dark and bright,
Meet in her aspect and her eyes!
Thus mellow'd to that tender light,
Which Heaven to gaudy day denies.

यद्यपि ये पंक्तियाँ करुण रस से शून्य नहीं हैं, किन्तु शृंगार की प्रधानता से इनमें वह आकाशमयी तान नहीं मिलती जो सब को विमोहित कर ले। अब शेली को देखिये—

O lift me from the grass
I die, I faint, I fail!
Let they love in kisses rain
On my lips and eyelids pale.
My cheek is cold, and white, alas!
My heart beats loud and fast.
O! press it close to thine again
Where it will break at last.

यह कविता है जिसके द्वारा पाठक कवि के हृदय में पहुँच कर उसके उद्गारों को देख सकते हैं। कौन सा पाठक पत्थर का कलेजा रखता है जो इसे पढ़ कर न पसीजे!

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध है कि वास्तव में करुण में कुछ

विशेषता है। देखना यह होगा कि कौन गुण इस विशेषता के मुख्य कारण हैं। मनुष्य का जीवन बाल्य काल से वृद्धावस्था तक एक दु:ख का ही जीवन है। जीवन की नदी प्रत्येक देश एवं देशान्तर से हो कर बहती है, कभी मंद, कभी द्रुत। किन्तु है यह वही नदी जो प्रत्येक के दु:ख की कहानी है। यही कारण है कि दु:ख के भाव प्राणी मात्र को ज्ञात हैं। जहाँ किसी ने अपने जीवन की कथा प्रारंभ की कि उससे सभी अपनी दशा की तुलना करने लगते हैं। यही कारण है कि दु:ख की कहानियाँ प्रत्येक को रुला देती हैं। हमारे मधुर गीत वही हैं जो दु:ख से परिपूर्ण होते हैं। लोग रोते भी हैं और प्रसन्न भी होते हैं। यदि मनुष्य का जीवन पद पद पर कंटकाकीर्ण हो रहा हो, यदि हँसी में भी रोने का ही चीत्कार सुनाई देता हो, यदि संसार का प्रत्येक फूल और पत्ती इसी राग को सदा अलापा करती हो तो अचम्भा क्या? इसी विकट दशा को देख कर तो बिहारी कहते हैं—

इन दुखिया अँखियान को सुख सिरज्योही नाहिं।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं॥

मनुष्य के जीवन में वह कौन सी ठेस लगी है जो संसार के प्रत्येक महापुरुष को सदा से दु:खी करती आई है? कहने का आशय यही है कि दु:ख की कथा सब को प्रिय लगती है। भाग्यचक्र के सामने उत्तरा की नि:सहायता 'कि उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही' प्रत्येक प्रेमी और प्रेमिका की नि:सहायता है। सभी इसी का चिन्तना करते हैं कि सुख मिले, किन्तु भाग्यचक्र कुछ का कुछ कर देता है।

पर दुःख का वह समय है जब मनुष्य माया के जटिल जाल से छूटकर परलोक का चिंतन करने लगते हैं। क्योंकि संसार की वास्तविकता का पता श्मशान तथा कब्रगाह में मिलता है। कितने वैरागी, कितने दार्शनिक अपने वैराग्य तथा दर्शन की कथा वहाँ से प्रारम्भ किया करते हैं ? बात तो यह है कि दुःख के समय में ही मनुष्य में सत्यासत्य का विवेक उत्पन्न होता है। जीवन का भी ठीक चित्र तभी दिखाई पड़ता है और मनुष्य के अनित्य होने का प्रमाण मृत्यु के पश्चात् ही मिला करता है। तभी यह जान पड़ता है कि मनुष्य अमरत्व की पुड़िया खाकर नहीं आया है। यदि आज उत्पन्न हुआ, तो कल अवश्य ही मृत्यु की गोद में सो जायगा। तभी तो कबीर का यह दोहा—

माली आवत देख के, कलियाँ करें पुकार।

फूली फूली चुन लिये, काल हमारी बार॥

हृदय में खलबली उत्पन्न कर देता है। यह संसार का उद्यान है, जिसमें कलियाँ और फूल दोनों दिखाई पड़ते हैं। आज कलियाँ लगीं, कल फूलीं, परसों मुरझा कर उसी अमर नियम की पोषक बन गईं। *यही दशा संसार की प्रत्येक वस्तु की है। आज हँसते-*खेलते हैं, कल दिल खोलकर रोयेंगे। रोना ही सब वस्तुओं का आदि है और रोना ही अन्त। तब बीच में हँसी की खिलखिलाहट तो निरर्थक ही है। हाँ, यदि इस हँसी में उस रोने का भी संकेत हो तो कोई दोष नहीं। नहीं तो—

गये सैर करन कल बाग की,
तुरग बाग दिये कर रेशमी।
सुनि परे तिनकी अब बारता,
चलि बसे तजि के जग-बाग को॥

का ही रोना रह जाता है। यदि यही दशा संपूर्ण संसार की है तो फिर किस लिए संसार के जीव पुष्पों की सुंदरता तथा मधुरता पर लट्टू होकर अपने-पन को बिसार बैठे? और जिन्होंने बिसार दिया, उन्हीं का क्या भला हुआ? केशव परिहास करते हुए एक सत्य बात भूले से कह गये हैं—

केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रबदन मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

चाहे इसे वे मज़ाक़ ही समझते हों, किन्तु यह केवल मज़ाक़ नहीं था। उनको भी तो उसी काल का कौर बनना था। यह वास्तव में उनके रोने की भीषण ध्वनि है।

प्रसंगवश यहाँ उस जाति की भी दशा देख लेनी चाहिए जो संसार की दशा देख कर भी आशा से अंधी हो गई थी। सोचती थी कि संभवत यह संसार मेरे लिए दूसरा रंगमंच तैयार करेगा। किन्तु भाग्य का चक्र उस पर भी फिरा और आज वह श्मशान से ही अपनी कहानी सुना रही है। संसार में प्रेमी और प्रेमिका का इतिहास बहुत बढ़ा चढ़ा है, सदा अमर प्रेम के प्याले पीने को हाथ पसारे रहता है। किन्तु जो प्रेम-प्याला जीते जागते मिला, वह केवल विष का प्याला था, जिसने

प्रेमी तथा प्रेमिका दोनों के प्राण नष्ट कर दिये। राधा और कृष्ण की प्रेम-कथा किसी से छिपी नहीं है। भाग्य की थोड़ी मुस्कराहट प्रारम्भ में हुई थी। राधा भी समझ बैठी थीं कि संसार को स्वर्ग बना लिया है, अब क्या! किन्तु उसी भाग्य ने दूसरा रंग पलटा और सूर के शब्दों में कहती फिरने लगीं—

प्रीति कर काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो॥

ये प्रेमिका के उन्माद-युक्त शब्द हैं। प्रारंभ में न जाना कि प्रेम तथा सुख मे बड़ा अंतर है। यदि इन दोनों का सम्मिलन हो जाय तो रह ही क्या जाय? तब मनुष्य को स्वर्ग की लालसा ही किस बात के लिए रह जाय? किंतु यहाँ कबीर की यह साखी स्मरण हो आती है—

कबिरा हँसना दूर कर, कर रोने से प्रीति।
बिन रोये क्यों पाइयाँ, प्रेम-पियारा मीत॥

ठीक है, बिना रोये संसार मे 'प्रेम-पियारा' कदापि नहीं मिल सकता। कबीर का तो समस्त जीवन उसी प्रेमिकावाले विरह में बीता था। तभी तो रट लगाई थी—'कोई जतन बताये जैहो, कैसे दिन कटिहैं।' मनुष्य सब प्रकार की चिन्तना करता है। किस प्रकार सुख की सामग्री इकट्ठी करता है, किन्तु भाग्य का अट्टहास इस सबका सत्तानाश कर डालता है। राम और सीता का तो प्रेम पारलौकिक था। अयोध्या के राजकुमार और जनक-दुलारी का

संयोग ब्रह्मा ने अपने हाथ से किया था। फिर किस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप उन्हें वन की ओर जाना पड़ा ? यहाँ भाग्य का विकराल मुख देखने मे आता है। जनक-दुलारी को आज वन की दौड़ लगानी पड़ रही है।

फिर पूछति है चलनोऽब कितो ,
पिय पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की ,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

ये रामचन्द्र जी के आँसू हैं, जो तुलसीदास स्वयं बैठ कर रोये हैं और सहस्रों पाठकों को नित्य रुलाते हैं।

लैटिन साहित्य मे डान्टे ने भी बड़ा नाम कमा डाला है, किन्तु उसकी संपूर्ण कथा बीट्रिस के विरह में ही बीती है।

अँग्रेजी में रोमियो और जूलियट की कथा सब को स्मरण है। लैला और मजनूँ , फरहाद और शीरीं के किस्से नित्य प्रति रटे जाते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि संसार में दुःख की ही पुकार चारो ओर से आई है और आती है। कभी कभी हँसी भी सुनाई पड़ती है, परंतु वह कितने क्षण के लिए ? ठीक महादेव के अट्टहास का रूप धारण कर कुल संसार का नाश कर डालती है। कवि का यही सिद्धान्त है कि इन सब का चित्र खींच कर संसार के सम्मुख रक्खे। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो यह कि संसार के सामने किसी महा-पुरुष की आत्मकथा आ जाती है; और दूसरा यह कि इस बात का

ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है कि विपत्ति का चक्र इन पर भी फिर घूमा है। यही कवि की चिन्ता रहती है; 'और शेली, के अमर शब्दों में यही उसका संदेश है। यदि वह बाग की कलियों का वर्णन करता है, तो वह मनुष्य के यौवन, धन, विद्या आदि की ओर संकेत करता है कि उन सबका कुछ काल में ही अन्त हो जायगा। तारों की झिलमिलाहट उसकी आँखों से यही कहती है कि देखा, किस प्रकार उदय हुए थे, और किस प्रकार मृत्यु की गोद में सोने को जा रहे हैं! मनुष्य प्रकृति देवी की अन्य वस्तुओं को देख कर अपनी दशा से तुलना कर लेते हैं। वह संसार-मद से मत्त नहीं होता, जिससे संसार की वास्तविकता को ही भूल बैठे। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि का संदेश पाठकों को नैराश्य कूप में नहीं ढकेल देता, क्योंकि ऐसी दशा में मनुष्य अपनी दशा कभी नहीं सुधार सकता। जहाँ पतझड़ दिखावेगा, वहाँ यह भी कह देगा कि 'होइहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल।' परन्तु है कुल कहानी दुःख की। यही राग है जो सबको प्रिय है और यही राग है, जिसकी तान में सत्य की झलक देख पड़ती है। कवि यही संदेश सुनाने के लिए संसार में जन्म लेता है। यहीं करुण रस की और रसों से महत्ता देख पड़ती है।

प्रतापनारायणसिंह।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

भारत में अङ्गरेजी राज्य स्थापित होने के बाद भारतवासियों को अँगरेजी शिक्षा दी जाने लगी। उसके द्वारा भारतवासी अँगरेजी साहित्य और विज्ञान आदि के मधुर और नवीन रसों का आस्वाद लेने लगे। पहले पहल तो अँगरेजी की चमक-दमक में इतने भूल गये और उसके द्वारा मिलनेवाले उन रसों में वे इतने लीन हो गये कि अपने घर की सभी बातें उनको निस्सार और त्याज्य जान पड़ने लगीं। विशेष कर बूढ़ी संस्कृत भाषा के साहित्य के विषय में तो उनके विचार इतने कलुषित हो गये, जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं! वे उसे अत्यन्त हेय दृष्टि से देखने लग गये। नवविवाहिता वधू के लावण्य और हाव-भाव में भूल कर साधारण बुद्धिवाला युवक अपनी बूढ़ी माँ का अनादर करने लगता है। वह उसे अपने सुख में काँटा समझने लग जाता है। प्रायः ऐसी ही दशा उस समय के नव-शिक्षित समाज की हो चली थी। यहाँ तक कि एक नामी भारतीय विद्वान् ने, कोई पचास साठ वर्ष पहले, बड़े जोरों के साथ कह डाला था कि संस्कृत की शिक्षा से मनुष्य की आँखें मुँद जाती हैं, पर अँगरेजी शिक्षा उन्हें खोल देती है। इस

दशा में यदि युरोप के विद्वानों को संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में भ्रम हो जाय तो आश्चर्य ही क्या। समय समय पर इस प्रकार के कितने ही विलक्षण और निर्मूल आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर महामहोपाध्याय डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों के द्वारा दिया गया है। शास्त्रीजी नामी विद्वान् और पुरातत्त्वज्ञ हैं। आप संस्कृत साहित्य के पारदर्शी पण्डित हैं। संस्कृत-कालेज (कलकत्ता) के प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। अब आप पेन्शन पाते हैं। काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के शिला-रोपण-सम्बन्धी महोत्सव के समय आप का भी एक व्यख्यान हुआ था। उस व्याख्यान का आशय इस प्रकार था।

आरम्भ में शास्त्रीजी ने पूर्वोक्त विद्वान् के भ्रमपूर्ण वाक्य का उल्लेख किया। फिर कहा कि जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों संस्कृत साहित्य से पढ़े-लिखे लोगों का बहुत ही थोड़ा परिचय था। वे नहीं जानते थे कि संस्कृत साहित्य कितने महत्त्व का है। उसमें भिन्न भिन्न विषयों पर कितने ग्रन्थ अब भी विद्यमान हैं। उस समय अँगरेजी पाठशालाओं में संस्कृत की शिक्षा बहुत ही थोड़ी दी जाती थी। अँगरेजी ही का दौर-दौरा था। इस कारण कुछ नव शिक्षित लोग यह खयाल कर बैठे थे कि अँगरेजी शिक्षा की बदौलत ही ज्ञान-सम्पादन हो सकता है। संस्कृत में धरा ही क्या है! व्याकरण रटते रटते और कोश कण्ठ करते करते जीवन व्यतीत हो जाता है; बाहरी

व्यावहारिक ज्ञान ज़रा भी नहीं होता। अँगरेज़ी शिक्षा को देखिए। आठ ही दस वर्षों में विद्यार्थी केवल अँगरेज़ी भाषा में ही प्रवीणता नहीं प्राप्त कर लेता, किन्तु वह अनेक शास्त्रों के रहस्यों को भी जान जाता है। वह गणित, इतिहास, विज्ञान-सम्बधिनी अनेक अनोखी बातों से भी अवगत हो जाता है। संस्कृत साहित्य से इतने ज्ञान-सम्पादन की आशा नहीं की जा सकती।

पर ख़ुशी की बात है कि अब वह ज़माना नहीं रहा। गत साठ ही वर्षों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ हो गया है। सन् १८७६ की एक बात मुझे याद आ गई। बङ्गाल के तत्कालीन छोटे लाट, सर रिचर्ड टेम्पल ने एक बार कहा था—

"The education of a Hindu gentleman can never be said to be complete without a thorough mastery of Sanskrit language and literature"

अर्थात् संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य का पूरा ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी हिन्दू की शिक्षा पूरी नहीं होती। उसे अधूरी ही समझना चाहिए।

उस समय संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों और शिलालेखों की खोज का काम आरम्भ ही हुआ था। इन गत पचास साठ वर्षों की खोज से संस्कृत साहित्य सम्बन्धिनी मार्के की बातों का पता चल गया है। अब कोई यह नहीं कह सकता कि संस्कृत-साहित्य में धर्म-ग्रन्थों के सिवा और हई क्या है? अब

तो युरोप और अमेरिका तक के विद्वान् यह मानने लगे हैं कि संस्कृत में सैकड़ों व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ भी हैं। खोज अब तक जारी है। कोई तीस वर्षों से मैं इस खोज का काम कर रहा हूँ। पर इतने ही से मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संस्कृत साहित्य भारत की प्राचीनता के भिन्न भिन्न स्वरूपों का प्रतिबिम्ब है। उसके अध्ययन से यह ज्ञात हो सकता है कि प्राचीन भारतनिवासी विद्या में कितने बढ़े-चढ़े थे, जीवनोपयोगिनी कितनी आवश्यक सामग्री उनके पास थी; कितनी बातें उन्हें मालूम थीं। अहा ! सर रिचर्ड टेम्पल यदि इस समय जीवित होते तो वे अपने वाक्य से जरूर 'हिन्दू' शब्द निकाल देते। क्योंकि अब संस्कृत साहित्य का महत्त्व इतनी दृढ़ता से सिद्ध किया जा चुका है कि उसका पूर्ण अध्ययन किये बिना किसी मनुष्य की शिक्षा पूर्ण नहीं कही जा सकती। यदि मेरे वे पूर्वोक्त भारतीय मित्र आज विद्यमान होते, तो देख लेते कि संस्कृत साहित्य भी अँगरेजी के सदृश मनुष्य की आँखें खोल सकता है। इस समय उन्हें अपनी पहली सम्मति पश्चात्तापपूर्वक वापस लेनी पड़ती।

अँगरेजी के सिवा युरोप की अन्य भाषाओं का साहित्य शृङ्खला-बद्ध नहीं। कहीं कहीं उसका सिलसिला टूट गया है। पर अँगरेजी-साहित्य इँगलैण्ड के आदि कवि चासर से लेकर आज तक—५०० वर्षों तक—रत्ती भर भी विशृङ्खल नहीं। इसी से टेन नाम का एक फ्रान्सनिवासी लेखक अँगरेजी

साहित्य पर लट्टू हो गया है। सिर्फ ५०० वर्षों की अखण्डित शृङ्खला पर टेन महाशय इतना आश्चर्य्य करते हैं। यदि वे यह जानते कि संस्कृत साहित्य का सिलसिला उससे कई गुने अधिक समय से बराबर चला आ रहा है, तो न मालूम उनके आश्चर्य्य का पारा कितनी डिग्री चढ़ जाता। सुनिए, हमारा संस्कृत साहित्य ईसा के कोई १५०० वर्ष पहले से, आज तक, शृङ्खला-बद्ध चला आ रहा है। अर्थात् संस्कृत साहित्य, अँगरेजी साहित्य की अपेक्षा सात गुने समय से शृङ्खला-बद्ध है। हाँ, अध्यापक मैक्समूलर अलबत्ता कहते हैं कि कोई सात सौ वर्षों तक संस्कृत-साहित्य सूना दिखाई देता है; उसकी शृङ्खला टूटी हुई दृष्टि पड़ती है। ईसा के पहले चौथी सदी से ईसा की चौथी सदी तक—बौद्ध-धर्म्म के उदय काल से गुप्त राजाओं के उदय काल तक—वे उसे खण्डित कहते हैं। इन सात शतकों में लिखे गये जितने शिलालेख पाये गये हैं, वे ऐसी भाषा में मिलते हैं जिसे प्राकृत के रूप में संस्कृत कह सकते हैं। वे चौथी सदी के बाद से संस्कृत का पुनरुज्जीवन मानते हैं।

परन्तु भाषा-सम्बन्धी परिवर्त्तन के कारण ही अध्यापक मैक्समूलर को यह भ्रम हुआ है। उनकी इस सम्मति का आदर विद्वानों ने नहीं किया; क्योंकि पूर्वोक्त अवधि में लिखे गये कितने ही ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। ईसा के पहले दूसरी सदी में—पुष्यमित्र के राजत्व काल में—पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य लिखा। चन्द्रगुप्त

मौर्य सिकन्दर का समकालीन था। उसी चन्द्रगुप्त के मन्त्री कौटिल्य (चाणक्य) ने अर्थ-शास्त्र की रचना की। प्रसिद्ध नाटककार भास की ख्याति कालिदास से कम नहीं। इसी भास के नाटकों के अवतरण कौटिल्य के ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कौटिल्य के पहले भास ने अपने ग्रन्थों की रचना की थी। कोहल, शाण्डिल्य, धूर्तिल और वात्स्य ने नाट्य-शास्त्र पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे। वे सब ईसा के पहले दूसरी सदी ही में रचे गये थे। महाराज कनिष्क के गुरु अश्वघोष, बौद्धधर्मीय महायान सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव और मैत्रेयनाथ आदि ने ईसा की पहली से लेकर तीसरी सदी तक अपने ग्रन्थों की रचना की।

देखिए, संस्कृत-ग्रन्थों की रचना बराबर होती चली आई है। इन सदियों में भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साम्पत्तिक तथा शिक्षा-विषयक स्थितियों में बहुत कुछ उथल-पुथल हुआ। तिस पर भी संस्कृत-साहित्य की शृङ्खला न टूटी। इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का यह अटूट क्रम और भी आश्चर्यकारक है। वह कभी टूटा ही नहीं। कभी एक प्रान्त में तो कभी दूसरे प्रान्त में, कहीं न कहीं, कोई न कोई ग्रन्थ लिखा ही गया। उत्तरी भारत में तेरहवीं सदी में अफगानियों ने जो उत्पात मचाया था, वह दुनियाँ में अपना सानी नहीं रखता। पर उस समय में गुजरात और मालवे में जैनियों ने साहित्य की वृद्धि की। भारत के पश्चिमी प्रान्तों में माधवा-

चार्य्य ने तथा दक्षिणी प्रान्तों और मिथिला में रामानुज के शिष्यों ने भी संस्कृत साहित्य का कलेवर बढ़ाया। चौदहवीं सदी में सारा भारत मुगलों और पठानों के आक्रमणों से उच्छिन्न हो रहा था। तिस पर भी कर्णाटक देश मे मध्वाचार्य्य, द्रविड़ मे वेदान्त-देशिक, मिथिला में चण्डेश्वर और उत्कल (उड़ीसा) मे तो कितने ही लेखकों ने ग्रन्थ लिख लिख कर संस्कृत साहित्य को पुष्ट किया।

इतना बड़ा और इतना अखण्डित ग्रन्थ-संग्रह क्या हमारे लिए उपयोगी नहीं? जरूर है। उससे हमारी कल्पना शक्ति पुष्ट होती है; विचार करने के लिए हमें वह साधन-सामग्री देती है। उसे देख कर हमें अपने प्राचीन गौरव का अभिमान होने लगता है। उससे हम जान सकते हैं कि हमारा अस्तित्व कितना प्राचीन है। संस्कृत की वर्णमाला-रचना बड़ी विचित्र है। उसके उच्चारण की शैली अपूर्व है। उसका भाषा-सौन्दर्य्य भी बहुत अधिक है। संस्कृत साहित्य के अवलोकन से हम यह जान सकते हैं कि बोल-चाल की भाषाएँ किस प्रकार बदलती रहती हैं और साहित्य की भाषा किस प्रकार अचल रहती है—उसका रूप जैसे का तैसा बना रहता है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से हमको प्राचीन इतिहास का ज्ञान होता है। वह हमें बताता है कि किस प्रकार प्राचीन आर्य्य धीरे धीरे अपनी मानसिक उन्नति करते गये; किस प्रकार वे क्रम से एक से एक उत्तम तत्वों की खोज करते गये; किस प्रकार हाथियों की पूजा करनेवाले प्राचीन आर्य्य,

सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करके अखण्डनीय सिद्धान्तों का ज्ञा
भी प्राप्त कर सके।

संस्कृत साहित्य का विस्तार बहुत है। वह पुष्ट भी खूब है अर्थात् उसमें ग्रन्थों की संख्या भी बहुत है; और वे ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण और उपयोगी विषयों पर लिखे गये हैं। पाली, मागधी, शौरसेनी आदि प्राचीन तथा वर्तमान देशी भाषाओं के साहित्य को छोड़ दें, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं होता। लैटिन और ग्रीक इन दोनों भाषाओं का साहित्य संस्कृत साहित्य की बराबरी नहीं कर सकता। १८९१ ईसवी तक कोई चालीस हजार संस्कृत ग्रन्थों की नामावली तैयार हो सकी थी। कितने ही ग्रंथ तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। भारत के प्रत्येक कोने में संस्कृत के ऐसे बीसियों प्राचीन ग्रन्थों के नाम सुनाई पड़ते हैं, जो अब उपलब्ध नहीं। एशिया के दूर स्थानों में भी ऐसे ही अनेक नाम सुने जाते हैं। गोबी नाम के एक रेगिस्तान में संस्कृत साहित्य सम्बन्धिनी बहुत सी सामग्री मिली है। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत और मङ्गोलिया में भी संस्कृत ग्रन्थ हैं। बौद्धों में पुण्डरीक नाम का एक भारी विद्वान् हो गया है। उसे बौद्ध लोग अवलोकितेश्वर का अवतार मानते हैं। उसके एक ग्रन्थ से पता चलता है कि रोम, नील नदी का प्रान्त, फारस आदि देश भी संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। मैडेगास्कर से फारमोसा टापू तक ही नहीं, उससे भी दूर तक सैकड़ों भाषाओं और बोलियों का मूलाधार संस्कृत ही है।

यह तो संस्कृत साहित्य के विस्तार की बात हुई। इतने
आपको उसके फैलाव की कुछ कल्पना मात्र हो सकती है।
उसकी निश्चित सीमा कोई नहीं बता सकता। जो संस्कृत साहि
आज उपलब्ध है, वह बहुत प्राचीन नहीं। वह तो नई चीज है-
किसी शास्त्र विशेष या कला विशेष से सम्बन्ध रखनेवाली नव
खोज का फल है। प्राचीन ग्रन्थ तो भूत काल रूपी महासमुद्र
लुप्त हो गये। देखिए, पाणिनि अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि उ
पूर्ववर्ती संस्कृत व्याकरण के २५ शाखा-भेद थे। कौटिल्य
अर्थशास्त्र में तत्पूर्ववर्ती अर्थ-शास्त्र के १० भेदों का उल्लेख
कोहल के नाट्य-शास्त्र से पता चलता है कि इस शास्त्र के भी ब
से शाखा-भेद थे। प्रत्येक शाखा-भेद के सूत्र, भाष्य, वार्तिक उ
निरुक्त आदि अलग अलग थे। वात्स्यायन के काम-सूत्र में
ऐसे ही उल्लेख पाये जाते हैं। उसमें काम-शास्त्र के पूर्व-रचयिता
का उल्लेख तो है ही, पर उस शास्त्र के सातों अधिकरणों के पूर्व
आचार्यों का भी उल्लेख है। संस्कृत के किसी श्रौत या गृह्य सू
ग्रन्थ को ले लीजिए। उसमें आपको कितने ही लेखकों और ग्र
के नाम मिलेंगे। दर्शन, अलङ्कार, व्याकरण और छन्द-शास्त्र
भी यही हाल है।

अतएव यही कहना पड़ता है कि संस्कृत साहित्य ब
विस्तृत है; वह खूब पुष्ट है; वह बहुत प्राचीन है। उसके भीत
भरी हुई सामग्री में ग़ज़ब की आकर्षण शक्ति है। उस

अध्ययन से मनुष्य बहुत सी बातें—बहुत ही उपयोगिनी बातें—सीख सकता है।

लोग कहते हैं कि संस्कृत जाननेवाले इतिहास के प्रेमी नहीं। उन्होंने कोई इतिहास नहीं लिखा। पर मैं कहता हूँ कि इतिहास से हम जो कुछ सीख सकते हैं, उससे कहीं अधिक संस्कृत साहित्य से सीख सकते हैं। पूर्ववालों ने तो उससे बहुत कुछ सीखा भी है। अब पश्चिमवाले भी उसका आदर करने लगे हैं। वे उसका अध्ययन करते हैं और उसकी शिक्षणीय बातों से अपने साहित्य को पुष्ट करते हैं। संस्कृत साहित्य से हमें यह शिक्षा मिलती है कि खून-खराबी और मार-काट के बिना भी मनुष्य किस प्रकार विजय-प्राप्ति कर सकता है। क्या हम इसे शिक्षा नहीं कह सकते ? मैं तो कहता हूँ कि साहित्य इससे बढ़कर और क्या शिक्षा दे सकता है ?

युरोप के निवासी, और कुछ भारत-निवासी विद्वान् भी, समझते हैं कि संस्कृत-साहित्य केवल ब्राह्मणों का धर्म्म साहित्य है। ब्राह्मणों के उपयोगी धर्म्म-ग्रन्थों के सिवा उसमें और कुछ नहीं। पर उन लोगों का यह ख़याल गलत है। संस्कृत साहित्य में केवल ब्राह्मणों के धर्म्म-ग्रन्थ ही नहीं, जैनों और बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ भी हैं। समस्त दक्षिणी और पूर्वी एशिया के धार्म्मिक जीवन पर संस्कृत-साहित्य का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है और पड़ता भी रहेगा।

धार्म्मिक साहित्य की बात जाने दीजिए। उसका प्रभाव

तो प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। सांसारिक साहित्य को लीजिए। इसी के लिए बेचारे संस्कृत साहित्य को लोग बदनाम कर रहे हैं। लोग संस्कृत साहित्य का यथार्थ महत्व नहीं जानते। सम्पत्ति-शास्त्र, विज्ञान, कला-कौशल, इतिहास, तत्वज्ञान, काव्य और नाटक आदि ही सांसारिक व्यवहारोपयोगी साहित्य के विभाग हो सकते हैं। अतएव अब मैं हर विषय पर विचार करके विपरीत-मतवादियों का भ्रम दूर करने की चेष्टा करता हूँ।

अर्थशास्त्र—सब से पहले मैं अर्थ-शास्त्र ही को लेता हूँ; क्योंकि कितने ही लोग कहते हैं कि यह शास्त्र आधुनिक है। युरोप के निवासी इसके जन्मदाता कहे जाते हैं। कोई दो ही सदियों में उन्होंने इसमे आश्चर्य्यजनक उन्नति कर दिखाई है।

भारत में शास्त्रों के मुख्य चार विभाग किये गये हैं—(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। इनमे पहले तीन का सम्बन्ध सांसारिक बातो से है और अन्तिम का धार्मिक बातों से। पहले तीनों में से सम्पति शास्त्र का सम्बन्ध सांसारिक बातों से बहुत अधिक है। संस्कृत साहित्य में इस विषय पर बहुत बड़ा ग्रन्थ विद्यमान है। वह है कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र। ईसा के पहले चौथी सदी में कौटिल्य ने उसकी रचना की थी। उसमें उसने अपने पूर्ववर्ती सम्पत्ति-शास्त्र के १० शाखा-भेदों का उल्लेख किया है। इसी एक बात से यह ज्ञात हो सकता है कि

इतने प्राचीन समय में भी भारतनिवासी अच्छे राजनीतिज्ञ और सम्पत्ति-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में (१) राजनीतिक सम्पत्ति-शास्त्र (२) राजनीतिक तत्व-ज्ञान (३) साधारण राजनीति (४) युद्ध-कला (५) सेना-संघटन (६) शासन-कला (७) न्याय-शासन (८) कोप (९) वाणिज्य-व्यवसाय और (१०) कल-कारखानों तथा खानों आदि के प्रबन्धका विवेचन किया है। इसे थोड़े में यों कह सकते हैं कि राज्यप्रबन्ध के लिए सभी आवश्यक विषयों का उसमे समावेश है। गृह-प्रबन्ध-विषयक सम्पत्ति-शास्त्र पर भी वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र के चौथे भाग में बहुत कुछ लिखा है। उस भाग का नाम है—भार्याधिकरण। उसे देखते ही ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन समय में हमारे यहाँ गृह-प्रबन्ध कैसे होता था। उसमें गृहपत्नी की व्याख्या की गई है। चीजों की सँभाल किस तरह करनी चाहिए, नौकर-चाकर के वेतन आदि का प्रबन्ध कैसे करना चाहिए, रसोई की व्यवस्था किस ढंग से होनी चाहिए, घर के आस पास बाग-बगीचे किस तरह लगाने चाहिएँ, बीजों की रक्षा किस तरह करनी चाहिए, परिवार के लोगों से गृहपत्नी को कैसा व्यवहार करना चाहिए, इन्हीं सब बातों का वर्णन उसमे है। कृषि और वृक्ष-रोपण का वर्णन भी वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता मे किया है। हमारे स्मृति-ग्रन्थों मे तो कितने ही ऐसे सङ्केत हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन विषयों पर और भी बड़े बड़े ग्रन्थ विद्यमान थे। 'पालकाप्य' का हस्त्या-

[वे]द और शालिहोत्र का अश्वशास्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि [प्र]ाचीन भारतनिवासी पशु-पालन और पशु-चिकित्सा में भी प्रवीण [थे]। इन ग्रन्थों से जाना जाता है कि प्राचीन ऋषियों ने कितनी चिन्ता और कितने परिश्रम से पशुओं के स्वभाव आदि का ज्ञान-सम्पादन किया था, उनके जनन और पालन के नियम बताये थे; उनके रोगों तथा उनकी चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त किया था। पाक-शास्त्र पर तो कितनी ही पुस्तकें हैं। पेड़ों और वनस्पतियों के फलों, जड़ों, छालों, पत्तों, डंठलों, फूलों और बीजों तक के गुण-धर्म का विवेचन उनमें मिलता है। भिन्न भिन्न जन्तुओं के मांस के गुण-दोषों का भी उनमें वर्णन है।

शास्त्रीय विषय—शास्त्र का ज्ञान दो ही उपायों से प्राप्त किया जा सकता है—(१) निरीक्षण या (२) प्रयोग द्वारा। कुछ लोगों का कहना है कि भारतनिवासियों ने शास्त्रीय विषयों पर कुछ विचार किया है सही, पर प्रयोग करना वे न जानते थे। यह निरा भ्रम है। देखिए गणित-शास्त्र में निरीक्षण ही प्रधान है; निरीक्षण ही के बल पर उसकी सृष्टि हुई है। भारतवासियों को प्राचीन समय की सब जातियों से अधिक गणित-शास्त्र का ज्ञान था। अङ्क-गणित में दशमलव की रीति का आविष्कार उन्हीं ने किया। बीज-गणित में वर्ग-समीकरण को हल करने की रीति का अनुकरण पश्चिमवालों ने भारतीयों ही से सीखा। हाँ, उसमें कुछ फेर-फार उन्होंने ज़रूर कर लिया है। त्रिकोणमिति में आर्य्यों ने अच्छी उन्नति की। उनको

अनेक प्रकार के कोणों का ज्ञान था। भारत में इस शास्त्र की उत्पत्ति नावों के कारण हुई। भारत-निवासियों को यज्ञ से बड़ा प्रेम था। इसी निमित्त उन्हें यज्ञ-वेदी बनानी पड़ती थी। वेदियाँ प्रायः पक्की ईंटों से बनाई जाती थीं, इसलिए उन्हें ईंटों और वेदी की भूमि को नापने की जरूरत पड़ती थी। इसी से उनको रेखागणित-सम्बन्धिनी भिन्न भिन्न आकृतियों का ज्ञान हुआ। यज्ञों के लिए उन्हें समय-ज्ञान की भी जरूरत पड़ती थी, इससे ज्योतिष-शास्त्र का उदय हुआ। ग्रीक तथा अन्य विदेशी जातियों के सम्पर्क से उन्हें इस शास्त्र के अध्ययन में और भी सहायता मिली। धीरे धीरे उन्होंने इस शास्त्र के सम्बन्ध रखनेवाली कितनी नई नई बातें खोज निकालीं। उन्होंने पृथ्वी की दैनिक गति का पता लगाया। ज्योतिष सम्बन्धी बड़े बड़े उपयोगी यन्त्रों का अविष्कार भी उन्होंने किया।

यह तो निरीक्षण-प्रधान शास्त्रों की बात हुई। अब प्रयोग-प्रधान को लीजिए। आर्य्यों के आयुर्वेद को देखिए, सब बात स्पष्ट समझ में आ जायगी। इस शास्त्र का ज्ञान केवल निरीक्षण से साध्य नहीं। इसके लिए बड़ी दूरदर्शिता के साथ प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। आर्य्यों ने असंख्य जङ्गली जड़ी-बूटियों के गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त किया। इसके लिए उन्हें हिमालय जैसे अलंघ्य पर्वतों पर भी घूमना पड़ा। उन्होंने, इस बात की गहरी खोज की कि किसी वनस्पति का कोई दोष किस अन्य वनस्पति के योग से दूर किया जा सकता है। इस

निमित्त उन्होंने सैकड़ों वनस्पतियों के गुण-दोषों की परीक्षा करके उनके योग से गोलियाँ, चूर्ण, घृत और तैल आदि तैयार करने की विधि निकाली। क्या यह सब बिना प्रयोग किये ही हो गया? ईसा के कोई एक हजार वर्ष पहले भी भारतवासियों को मनुष्य के शरीर की हड्डियों का ज्ञान था। वे जानते थे कि शरीर में कितनी हड्डियाँ हैं, कौन हड्डी किस जगह है और उसका आकर कैसा है। जानवरों की नस नस का ज्ञान भी उन्हें था। अर्थात् वे शरीर-शास्त्र के भी ज्ञाता थे। वे जर्राही में भी बड़े चतुर थे। अस्थियाँ काटने में वे जिन यन्त्रों का उपयोग करते थे, उनको देखने से ही यह बात सिद्ध है। चिकित्सा-शास्त्र की सभी शाखाओं का उनको बहुत कुछ ज्ञान था। वे धातुओं और अन्य खनिज वस्तुओं का उपयोग भी जानते थे। उनसे वे अनेक प्रकार की औषधें तैयार करते थे। अर्थात् रसायन-शास्त्र में भी उनका काफी दखल था। इस शास्त्र के प्रयोगों से प्राचीन भारतवासियों ने कितनी उन्नति कर ली थी, इसका डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ में बहुत अच्छा वर्णन किया है। उनके बताये हुए पारे के भिन्न भिन्न उपयोग तो बहुत ही प्रशंसनीय हैं। प्राचीन भारतवासी भौतिक-शास्त्र (Physics) में भी पीछे न थे। वैशेषिक-दर्शन और कारिकावली अथवा शाखापरिच्छेद पढ़ते ही यह बात ध्यान में आ जाती है। उनमें अध्यात्म-विद्या का उतना विचार नहीं किया गया जितना पदार्थ-विज्ञान का। वैशेषिक-दर्शन का परमाणुवाद

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे पूर्वज पदार्थ-विज्ञान की उन कितनी ही शाखाओं पर विचार कर चुके थे, जिनमें इतने समय बाद युरोप ने अब कहीं विशेष उन्नति की है।

चन्द्रकीर्ति नाम के एक लेखक ने आर्य्यदेव के लिखे हुए चतुःशतिका नामक ग्रन्थ पर एक टीका लिखी है। आर्य्यदेव तीसरी सदी में और चन्द्रकीर्ति छठी सदी में हुए थे। उसमे दो कथाएँ हैं। उनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे आर्य्यों ने यन्त्र-निर्म्माण में भी यथेष्ट प्रवीणता प्राप्त कर ली थी।

कला-कौशल—हमारे यहाँ ६४ कलाएँ मानी जाती हैं। चौंसठ कलाओं की कई नामावलियाँ मेरे देखने में आई हैं। पञ्चालिका नाम की एक नामावली है। एक और का नाम है मूल-कला। वस्तु-कला, द्यूत-कला, शयन-कला आदि इसके कितने ही भाग हैं। एक नामावली और भी है। उसका नाम है औपायिकी-कला। उसका टीकाकार कहता है कि कुल कलाएँ ५१८ हैं। खेद है, उनके नाम उसने नहीं गिनाये। मैं समझता हूँ कि सभी औपायिकी कलाओं पर पुस्तकें लिखी गई होंगी। कितनी ही औपायिकी कलाओं पर पुस्तकें मिलती भी हैं। उन्हे सब लोग जानते हैं। सङ्गीत ही का उदाहरण लीजिए। उस पर कितनी ही पुस्तकें हैं। बङ्गालनिवासी शुभानन्द कविकण्ठाभरण ने हिन्दुओं के अठारहों शास्त्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। वे शेरशाह के समकालीन थे। उन्होंने सङ्गीत-विद्या पर भी एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने सङ्गीत-शास्त्र पर

पुस्तक-रचना करनेवाले कितने ही प्राचीन लेखकों के नाम दिये हैं। कोहल ने अपने नाट्यशास्त्र में अकेले नृत्य पर कितने हीं अध्याय लिख डाले हैं। उनमें करण, अङ्गहार, नर्त्त आदि का विवेचन किया गया है। दशरूपक नामक ग्रन्थ में भी नर्त्य और नृत्य का भेद दिखाया गया है। कोहल ने, मेरे खयाल से, नाट्य-शास्त्र की रचना दूसरी शताब्दी में की थी। उसने नाट्य-शास्त्र के सभी अङ्गों और उपाङ्गों का सविस्तर विवेचन किया है।

हाँ, चित्रकला पर अभी तक कोई पुस्तक नहीं मिली। पर ईसा के पूर्व दूसरी सदी की चित्रकारी के नमूने अलबत्ता मिले हैं। छठी से दसवीं सदी की चित्रकारी तो बहुत ही उत्तम मिली है— कहीं गुफाओं के भीतर मन्दिरों में, कहीं दीवारो पर, और कहीं ताड़ के पत्तों पर लिखी हुई पुस्तकों पर। यहाँ की सङ्गतराशी के काम की तो सारी दुनिया तारीफ करती है। उसके तो बौद्ध-कालीन नमूने तक मिलते हैं। इनके सिवा प्राचीन भारतनिवासियों को और भी छोटी मोटी अनेक कलाएँ ज्ञात थीं।

इतिहास—कितने पुराणों मे बड़े बड़े राज-वंशों का विवरण है। प्राचीन लिपियों के संग्रह से भारत के प्राचीन इतिहास-ज्ञान की प्राप्ति में खूब सहायता मिल रही है। सातवीं सदी से हमारे यहाँ लिखे हुए इतिहास मिलते हैं। उनमें सब से पहला हर्षवर्द्धन का इतिहास है। तब से भिन्न भिन्न रूपों में इतिहास का लिखना बराबर जारी रहा। नव साहसाङ्क चरित,

विक्रमाङ्क-चरित, द्वयाश्रय, रामचरित, पृथ्वीराज-चरित और राजतरङ्गिणी आदि देखने से यह बात समझ में आ सकती है कि किस प्रकार भिन्न भिन्न ढगों पर इतिहास लिखे गये हैं। खोज करने से इस विषय में और भी बातें मालूम हो सकती हैं। कोई तीन सौ वर्ष पहले, पण्डित जगमोहन नाम के एक लेखक ने एक इतिहास-सग्रह किया। उसमें लेखक ने कई पूर्ववर्ती सग्रह-कर्ताओं के नाम दिये हैं। एक ऐसा ग्रन्थ मिला भी है। वह है भविष्य पुराणान्तर्गत ब्राह्म-खण्ड। उसे देखने से इतिहास और भूगोल सम्बन्धिनी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। अतएव कहना पड़ता है कि सस्कृत साहित्य मे इतिहास का अभाव है, यह आक्षेप निराधार है।

तत्त्व ज्ञान—भारतीय तत्त्व ज्ञान छ भागो में बँटा हुआ है। पर उस विषय मे आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। वे एक दूसरे से नहीं मिलते। वे दर्शन कहलाते हैं। सभी दर्शनो में अध्यात्म विद्या ही का वर्णन नहीं। वैशेषिक दर्शन मे पदार्थ विज्ञान के सिद्धान्त भरे पडे हैं। न्याय में तर्कशास्त्र का विवेचन किया गया है। मीमासा में धर्म्म-कर्म्म सम्बन्धिनी प्राचीन पद्धतियों की व्याख्या है। योग दर्शन में अन्तर्निहित शक्तियों के उद्बोधन का वर्णन है। हाँ, शङ्कर और बौद्ध धर्म्मीय महायान सम्प्रदाय के लेखकों ने अध्यात्म विद्या का खूब विवेचन किया है। महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने नीति शास्त्र—नैतिक तत्त्व ज्ञान—के भी तत्त्वों पर गहरा विचार किया है।

काव्य और नाटक—प्रत्येक मनुष्य-जाति में काव्य, थोड़ा बहुत, अवश्य पाया जाता है; क्योंकि जीवन-कलह से त्रस्त मनुष्य के मन को शान्ति देने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। एक देश या जाति-विशेष का काव्य-साहित्य दूसरे देश या जाति-विशेष से नहीं मिलता। किसी जाति में साहित्य का यह अङ्ग उतनी उन्नति को नहीं पहुँच पाया जितनी उन्नति को वह भारतवर्ष में पहुँचा है। किसी में एक बात की कमी है, तो किसी में दूसरी बात की। किसी में सङ्गीत का अभाव है, किसी में नाटक का, किसी में पद्य का। पर प्राचीन भारत के काव्य-साहित्य में किसी बात का अभाव नहीं। गद्य-काव्य, पद्य-काव्य, चित्र-काव्य; इसी तरह दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य; कहाँ तक गिनावें, प्रत्येक प्रकार का काव्य मौजूद है और प्रत्येक बात काव्य से भरी हुई है। रामायण, महाभारत और रघुवंश पौराणिक काव्य के उत्तम नमूने हैं।

नाटक, अलङ्कार, चम्पू तथा अन्य छोटे मोटे काव्य-ग्रन्थों की तो बात ही जाने दीजिए। जगत्प्रसिद्ध कालिदास का रघुवंश तो दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। पुराणों में प्रायः एक, दो अथवा इससे भी अधिक मुख्य पात्रों का वर्णन रहता है। पुराण के आरम्भ से अन्त तक उनका कार्य-कलाप दिखलाया जाता है। रघुवंश में एक विशेषता है। वह यह कि उसके मुख्य पात्र बीच ही में लुप्त होते जाते हैं। फिर भी उनका उद्देश्य, उनका कार्य और उनकी नीति की एकता ज्यों की त्यों बनी रहती है।

उनकी शृङ्खला खण्डित नहीं होती। यह विशेषता, यह चमत्कार, रघुवंश के सिवा और कहीं न पाइएगा।

अन्यान्य विषय—जो साहित्य किसी मनुष्य-जाति के सम्पूर्ण कार्य्यों और जीवन को प्रतिबिम्बित करता है, वही पूर्ण और प्रभावशाली कहा जाता है। अर्थात् जिस साहित्य के अवलोकन से यह जाना जा सके कि अमुक जाति के कार्यों की दिशा और उसकी सभ्यता अमुक प्रकार की है और उसके जीवन में अमुक विशेषताएँ हैं, वही साहित्य श्रेष्ठ है। यदि यह सिद्धान्त सच हो तो संस्कृत साहित्य ही ऐसा साहित्य है जिस पर यह लक्षण घटित होता है। अपने प्राचीन समय को याद कीजिए। उस समय न कागज ही मिलते थे, न छापने की कला का ही उदय हुआ था। पर हमारा संस्कृत साहित्य तब भी पूर्णावस्था को पहुँच गया था। और शास्त्रों की बात का तो कहना ही क्या है, संस्कृत-साहित्य में चौरशास्त्र तक विद्यमान है। भास और शूद्रक ने अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख किया है। चौरशास्त्र पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मिला है। उसका लेखक भी चोर ही था। उसमें उसने चौर-कर्म्म का अच्छा वर्णन किया है। यह ग्रन्थ ताड़पत्र पर लिखा हुआ है। इसी तरह बाज पक्षी आदि पालने पर भी एक पुस्तक मिली है। इन पक्षियों की भिन्न भिन्न जातियों, उनके पालन-पोषण के नियमों तथा उनके उपयोगों का उसमें वर्णन है।

इस विवेचन से सिद्ध है कि संस्कृत साहित्य कितने ही

आश्चर्य से भरा हुआ है। उसका विस्तार, उसकी प्राचीनता, उसकी पुष्टि बहुत ही कुतूहल-जनक है। ऐसे साहित्य का अध्ययन करनेवालों के मन पर क्या कुछ भी असर नहीं पड़ सकता? ज़रूर पड़ सकता है। यह अध्ययन-कर्त्ता के शील-स्वभाव को एक दम बदल सकता है। बुद्धि-सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त करने में इस साहित्य के अध्ययन से बढ़कर अन्य साधन नहीं। खेद है, ऐसे उपयोगी, ऐसे परिपूर्ण, ऐसे प्रभावशाली साहित्य का बहुत ही कम सम्मान आज तक लोगों ने किया है। पर अब हम उसकी महत्ता समझने लगे हैं, इससे बहुत कुछ सन्तोष होता है।

(१४)

श्मशान

यहाँ पर आने पर सब बराबर हो जाते हैं। पण्डित, मूर्ख, धनी, दरिद्र, सुन्दर, कुरूप, महान्, क्षुद्र, ब्राह्मण, शूद्र, बंगाली, यहाँ सब बराबर हैं। नैसर्गिक, अनैसर्गिक, सब तरह का वैपम्य यहाँ दूर हो जाता है। शाक्यसिंह, शंकराचार्य्य, ईसा, रूसो, राममोहन, कोई ऐसा साम्य-संस्थापक इस जगत में नहीं हुआ। इस बाजार में सब चीजों की एक दर बिक्री होती है—अति महान् एवं अति क्षुद्र, महाकवि कालिदास और तुकबन्दी करनेवाले, सब का यहाँ एक भाव है। इसी से कहता हूँ कि यह स्थान धर्म्म-भावपूर्ण है, यह स्थान सदुपदेशपूर्ण है, यह स्थान पवित्र है।

यहाँ बैठकर यदि थोड़ी देर तक चिन्ता की जाय तो मनुष्य के महत्व की असारता समझ में आती है, अहंकार चूर चूर होता है, आत्मादर संकुचित होता है, स्वार्थपरता की नीचता हृदयंगम करने में समर्थ होता हूँ। आज हो, कल हो, या दस दिन के बाद हो, पर सभी को आकर इस श्मशान की मिट्टी में मिल जाना होगा। जो अनभिभवनीय वीर्य्य, जो दुर्जय अहंकार आज तक कभी उत्पन्न हुआ था, वह इसी मिट्टी

में मिल चुका है। हमारी तुम्हारी हकीकत ही क्या है! जिस उत्कट आत्माभिमान ने युरोप की पंडित-मंडली से अहंकार के साथ कर माँगा था, वह इसी मिट्टी में मिल गया। हम तुम कौन हैं! उस दिन जिस चिन्ता-शक्ति ने ईश्वर को भी अपना काम करने में असमर्थ कह देने का साहस किया, वह भी इस श्मशान की मिट्टी हो चुकी। हमारी तुम्हारी क्या बात है! जिस रूप की अग्नि में ट्राय जल मरा था, जिस सौंदर्य्य-तरंग में विपुल रावण वंश डूब गया था, जिस लावण्य-रज्जु में जूलियस सीजर बँध गया था, जिस पवित्र सौकुमार्य्य के कारण इस पापी हृदय में कालाग्नि धधक रही है, वह सुन्दरी, वह देवी, वह विलासवती, वह अनिर्व्वचनीया इसी मिट्टी में मिल गई। हम तुम किस खेत की मूली हैं! यह संसार कै दिन के लिये है? यह जीवन कै दिन का है? नदी-हृदय पर उठते हुए जल-बुद्बुद की तरह जिस हवा के झोंके के साथ पैदा हुआ, उसी के साथ मर मिटा। आज अभिमान में चूर होकर एक भाई को पैरों से कुचल डाला, लेकिन कल ही ऐसा दिन हो सकता है कि मुझे सियार, कुत्ते लात से ठुकरावेंगे, तो मैं भी कुछ प्रतिविधान नहीं कर सकूँगा। तब अहंकार क्यों? किस लिये अहंकार? इस अनन्त विश्व में मैं कौन हूँ—मेरी हकीकत ही क्या है—मैं हूँ क्या? मिट्टी का पुतला! इसलिये अहंकार नहीं शोभा देता। इसी से कह रहा था कि यह स्थान याद आने से सारा अहंकार—विद्या का अहंकार, प्रभुत्व का अहंकार, धन

का अहंकार, सौंदर्य का अहंकार, बुद्धि का अहंकार, प्रति
अहंकार, क्षमता का अहंकार, अहंकार का अहंकार—सब आ
चूर्ण हो जाते हैं। और वह दिन ! वह तो हटाये हट ही
सकता—भागने से भी रक्षा नहीं हो सकती। जिन भीरु
लक्ष्मण सेन ने जीवन के भय से, मुसलमानों के हाथ में जन्म
सौंपकर, मुँह का कौर भोजन-पात्र मे फेंककर, तीर्थ की यात्रा
थी, वह भी अपनी जान नहीं बचा सके। सुना है कि स्वर्ग
वैषम्य नहीं है—ईश्वर की आँखों में सभी बराबर हैं। स्वर्ग क
है, सो नहीं जानता—कभी देखा भी नहीं, शायद कभी देखूँ
भी नहीं। किन्तु श्मशान-भूमि का यह उपदेश स्पष्ट है। यह स्था
स्वर्ग की अपेक्षा भी बड़ा है। यह स्थान पवित्र है।

और स्वार्थ-परता। उसकी भी क्षुद्रता अनुमित होती है,
सामने असीम जलराशि अनन्त प्रवाह से प्रवाहित हो रही है।
पैरों के नीचे विपुला धरित्री पड़ी हुई है। मस्तक के ऊपर
अनन्त आकाश फैला हुआ है। उसमे असंख्य सौर-मंडल,
अगणित नक्षत्र-लोक नाचते फिरते हुए दिखलाई पड़ते हैं—
संख्यातीत धूम्रकेतु इधर उधर दिखलाई पड़ते हैं। भीतर
अनन्त दुःख-राशि क्षुब्धसागर के समान, मत्त मातंग के तुल्य
डोल रही है। जिधर देखो, उधर ही अनन्त देख पड़ता है।
और मैं कितना छोटा हूँ, कितना गया बीता हूँ ! इसी सामान्य,
इसी क्षुद्रादपि क्षुद्रतर के लिये इतना आयास, इतना यत्न,

तनी परेशानी, इतना तूल-कलाम, इतना पाप होता है ! बड़ी
तज्ञा की बात है । इसी क्षुद्र को केन्द्र बनाकर जो जीवन बीत
चुका, उसका महत्त्व कहाँ रहा ? लेकिन तुम क्षुद्र भले ही हो,
मानव जाति क्षुद्र नहीं है । यह मैं मानता हूँ कि एक एक मनुष्य
को लेकर मनुष्य जाति बनी है, किन्तु जाति-मात्र ही महान् है ।
बिन्दु बिन्दु जल से समुद्र होता है; कण कण वाष्प लेकर मेघ
बनता है, रेणु रेणु बालुका से मरु-भूमि बन जाती है, क्षुद्र क्षुद्र
नक्षत्रों से छाया-पथ तैयार होता है । अणु परमाणु से ही यह
नन्त विश्व रचा गया है । एकता ही महत्त्व है । मनुष्य जाति
हान् है, महान् कार्य्य में आत्मसमर्पण करना ही महत्व है । हाँ,
ह मैं स्वीकार करता हूँ कि जिस तरह व्यक्ति का नाश होता है,
सी तरह जाति मात्र का भी ध्वंस होता है । ऐसे प्रमाण मिलते
कि अब तक कितनी ही प्राचीन जातियाँ पृथ्वी से लुप्त हो चुकी
और अनेक नई जातियों का आविर्भाव हुआ है । किन्तु उससे
नपनी हानि ही क्या है ? जिस दिन मनुष्य जाति का लोप होगा,
स दिन इसका लोप देखने को मैं थोड़े ही बचा रहूँगा; क्योंकि
मैं भी तो मनुष्य ही हूँ—मनुष्य जाति के ही अन्तर्गत ठहरा !
किन्तु क्या कह रहा था, भूल ही गया ।

यहाँ आने पर सब चीजों की समाधि बन जाती है । अच्छा,
बुरा, सत्, असत् सब इसी रास्ते से होकर संसार परित्याग
करते हैं । यह सुख का स्थान है । यहाँ शयन करने पर शोक-

ताप नष्ट हो जाते हैं, ज्वाला-यंत्रणा मिट जाती है, सभी दुःख दूर हो जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सब दुःखों का नाश हो जाता है। लेकिन यह भी कहना पड़ेगा कि यह दुःख का स्थान है। यहाँ पर जो आग जलती है, वह इस जन्म में दूर नहीं होती। उस आग में सौन्दर्य्य जल जाता है, प्रेम जल जाता है, सरलता जल जाती है, लज्जा जल जाती है, जो कुछ जलने लायक नहीं है, वह भी जल जाता है। और उसी के साथ साथ दूसरे की आशा, उत्साह, प्रफुल्लता, सुख, उच्चाभिलाष, माया सब कुछ लुप्त हो जाता है। इसी से कहता हूँ कि यह स्थान सुख का भी है, दुःख का भी है। जो चला जाता है, उसे सुख है; जो रह जाता है, उसको दुःख है। इस संसार का यही नियम है। सब कुछ अच्छा है और सब कुछ बुरा भी है। कुसुम में सौरभ है, कंटक भी है; मधु मे मिष्टता है, तीव्रता भी है; सूर्य्य-रश्मि में प्रफुल्लता है, रोग पैदा करने की शक्ति भी है। रमणी की आँखों मे सौन्दर्य है, सर्वनाश भी है। रमणी के हृदय में प्रेम है, छल भी है। धन से क्षमता की वृद्धि होती है, यौवन निर्वाचन की प्रतिबन्धकता भी होती है। जगत में कोई वस्तु निर्दोष नहीं दिखलाई पड़ती। सब मे भला-बुरा मिला हुआ है। इसलिये प्रकृति देखकर जहाँ तक समझता हूँ, उससे बोध होता है कि हम लोग जो यह संसार देख रहे हैं, उसका जो आदि कारण है, वह भी भला-बुरा मिला हुआ है, अथवा दो शक्तियों से यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

उनमें से एक अच्छी, एक बुरी है; एक स्नेह, एक घृणा है; एक अनुराग, एक विराग है; एक आकर्षण, एक विकर्षण है। लेकिन क्या कहते कहते क्या कहने लगा!

यह जो संसार है, वह एक महा श्मशान है। निरन्तर बहता हुआ कालस्रोत दिन दिन, प्रति दण्ड, प्रति क्षण, पल पल में सब को बहाये लिये जाता है और विस्मृति के गर्भ में डाल देता है। गत मुहूर्त्त में जिसे देखा है, वर्त्तमान मुहूर्त मे उसका पता नहीं है। प्राण देने पर भी वह नहीं आ सकता। इस घड़ी जो मौजूद है, दूसरे ही क्षण में वह नहीं हो जायगा—सारा संसार छान डालोगे तो भी उसे नहीं पाओगे। वह कहाँ जाता है, कहाँ जायगा, यह जितना तुम्हें मालूम है, उतना मुझे भी मालूम है; और उससे अधिक कोई नहीं जानता। सब जाता है, कुछ रहता नहीं—रह जाती है केवल कीर्ति। कीर्ति अक्षय है। कालिदास चले गये, शकुन्तला रह गई। शेक्सपियर चले गये, हैमलेट आज तक मौजूद है। वाशिंगटन चले गये, पर अमेरिका की स्वाधीनता की ध्वजा आज भी फहरा रही है। रूसो चले गये, पर साम्यवाद का दुन्दुभी नाद आज तक पृथ्वी में घोषित हो रहा है। कीर्ति रहती है। अकीर्ति भी रहती है। आदमी के भले बुरे गुण आदमी के साथ ही साथ चले जाते हैं, पर उसकी कीर्ति और अकीर्ति जगत में रह जाती है। वाशिंगटन का स्वदेशानुराग उनके साथ ही चला गया। शेक्सपियर का चरित्र-दोष भी उन्हीं के साथ चला गया। किन्तु वे संसार

का जो उपकार कर गये हैं, उसका सौरभ दिन दिन अधिकाधिक फैल रहा है। यही जगत् का सार तत्व है—धर्म्म की मूल भित्ति है, पुण्य का सुवर्ण सोपान है। किन्तु क्या कह रहा था।

यह ससार एक महा श्मशान है। जो चिताग्नि यहाँ धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनियाँ में नहीं है। जड प्रकृति किसी का मुँह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसी को जलाती हुई, पहले की तरह धधकती हुई, हँसती और किलकारती हुई चली जाती है। यह जो नक्षत्रों का समूह अल्पान्धकार मे झिलमिला रहा है, वह इस विश्वव्यापी महावह्नि की सिर्फ चिनगारियाँ हैं। इस ससार में अग्नि कहाँ नहीं है? निर्म्मल चन्द्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की काकली में, कुसुम के सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन मे, रमणी के मुखडे मे, पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रही है? किस आग मे आदमी नहीं जलता? अगर प्यार करोगे तो जल मरना होगा, और यदि नहीं प्यार करोगे तो और भी जल भुन कर खाक हो जाना होगा। लडके वाले न होंगे तो शून्य गृह लेकर जलना होगा, अगर होंगे तो ससार-ज्वाला में जलना होगा। केवल मनुष्य ही नहीं, सारे ससार के जीव जला करते हैं। प्राकृतिक निर्वाचन मे जलते हैं, यौवन निर्वाचन मे जलते हैं, सामाजिक निर्वाचन मे जलते हैं, परस्पर के अत्याचार से जलते हैं। कौन नहीं जलता? इस ससार मे

आकर कौन स्वस्थ मन से, अक्षत शरीर से चला गया? दुःख के ऊपर दुःख तो यह है कि इस पापी संसार में सहृदयता नहीं, सहानुभूति नहीं, करुणा नहीं। इस अनन्त जीव-समूह का इस महावह्नि में हाड़ हाड़ जल रहा है और जड़ प्रकृति केवल व्यंग्य करती है। चन्द्रमा के सदा हँसमुख चेहरे पर कभी किसी ने विषाद का चिह्न देखा है? नक्षत्र-राशि के सौभाग्य भरे मृदुकंपन में कभी ह्रास या वृद्धि देखी गई है? कल्लोलिनी के कल-निनाद में कभी किसी ने स्वर-विकृति देखी है? नव-कुसुमिता लता के डोलने में कभी किसी ने ताल भंग होते देखा है? हम लोग जल रहे हैं; किन्तु यह देखो, वृक्षराजि कर-ताली दे देकर नाच रही है। यह देखो, समीरण हँस रहा है—हा हा, हो हो!

हाय! इस तरह से और कितने दिन जला करूँगा? कब तक यह यंत्रणा दूर होगी? क्या फिर कभी तुम्हें न पाऊँगा? आज हो, कल हो, दस दिन बाद हो, जन्म-जन्मान्तर में हो, या युग-युगान्तर में हो—कभी किसी दिन तुम्हे पाऊँगा कि नहीं? अगर नहीं पाऊँगा तो क्या भूल भी नहीं सकूँगा? मुझे मन ही मन एक विश्वास है कि जिस दिन इस सैकत शैय्या पर अन्तिम निद्रा मे सोऊँगा, उसी दिन शायद उसे भूल सकूँगा। तभी शायद वह आग बुझेगी। इसी से तो कभी कभी मरने की इच्छा होती है। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उसे भूल जाना पड़ेगा, उसके साथ संबंध नहीं रह जायगा, ऐसा विश्वास होने ही के कारण मरने की

इच्छा नहीं होती ! वह इस जन्म में फिर आँखों के आगे नहीं आवेगी, यह जानता हूँ; पर दिल ही दिल में उसे सदा देखा करता हूँ। वह जहाँ है, वह स्थान पवित्र है। उस मंदिर को जान-बूझ कर क्यों तोड़ूँगा ? वह क्या प्राण रहते तोड़ा जा सकता है ? यह जब तक चिंता का विषय है, तब तक चिन्ता बनी रहे, यही ठीक है। बड़ी यन्त्रणा होती है, तो इससे क्या ? अगर इसके लिये यंत्रणा न सही तो मनुष्य जन्म को धिकार है। इस प्रेम को धिकार है। इन प्राणों को धिकार है। इस परिणाम को धिकार है। किन्तु मालूम होता है कि मैं फिर उसे पाऊँगा, शायद फिर मैं और वह दोनों मिल कर एक होंगे। जगत परिवर्त्तनशील है, अतएव संभव है कि वह मिट्टी और यह मिट्टी मिल सकेगी—उस कान्त कलेवर के परमाणुओं के साथ इस जली हुई मिट्टी के परमाणुओं की संगति हो सकेगी। दो देहों के विलग हुए उप-करणों का पुनः मेल होकर एक नई सत्ता की सृष्टि हो सकती है। इसी से कहता हूँ कि संभव है कि परलोक में हम दोनों एक हो सकें। बस भोलानाथ ! वह और मैं—जो प्राणों का प्राण है, जो जीवन का जीवन है, जो नयनों का नयन है, जो हृदय का हृदय है, वह और मैं—जो संसार की माया है, जो जीवन की नौका है, जो गृह की आकर्षिणी शक्ति है, वह और मैं—जो संसारान्धकार में चन्द्रमा है, जो जीवन मरु-भूमि का शाद्वल है, जो भवसागर की तरणी है, जो जीवन

पथ की पान्थशाला है, वह और मैं—जो पृथ्वी का सार है, जो स्वर्ग का आदर्श है, जो इहलोक का सर्वस्व है, जो परलोक से भी बढ़कर है, वह और मैं—जो गृह-कुंज की सुख-लता है, जो चिन्ता सागर की प्रफुल्ल नलिनी है, जो आशा-लता का आश्रय तरु है, वह और मैं—जो संसार रूपी विदेश की स्नेहमयी संगिनी है, जो जीवन मरु-भूमि का शीतल सरोवर है, जो भूत भविष्यत् रूपी अंधकार का उज्ज्वल तारा है, जो हृदय कानन का विकच कुसुम है, वह और मैं—जो आशा में विश्वास है, जो माया में मोह है, जो प्रेम में कवित्व है, जो दुःख में सान्त्वना है, जो सुख में चाहिए, वही है—वह और मैं शायद फिर भी मिल जायँगे। वह मर कर मिट्टी हुई है, मैं भी मर कर मिट्टी होऊँगा। फिर दोनों की मिट्टी एक हो जायगी। मेरी देह के परमाणुओं में उसकी देह के परमाणु मिलेंगे। जब वह और मैं दोनों एक हो जायँगे, तब एक नई सत्ता का अभ्युदय होगा। जो सत्ता होगी, वह बुरी ही क्यो न हो, पर वह मिलन कैसे सुख का मिलन होगा। वह संघटन कैसा सुखकर होगा। मेरी वह आदरणीय, वह सुहागिन, अतीत के कोमलाकाश का वह इन्द्र-धनुप, वर्त्तमान के अँधेरे गगन की वह सौदामिनी—कैसा हृदय को आनन्द देनेवाला मिलन होगा। दोनों मिलकर एक नई सत्ता का उदय करेंगे। कैसा सुखकर मिलन है। जन्मान्तर मे कौन सन्देह करता है? आत्मा क्या है? वह शरीर यन्त्र की गति मात्र है। इसी से

कहता हूँ कि शरीर का प्रत्येक परमाणु आत्मा है। मनुष्य मरने पर वृक्ष हो सकता है, तृण हो सकता है, पत्थर हो सकता है, मनुष्य हो सकता है, नक्षत्र हो सकता है, पशु हो सकता है और कीट भी हो सकता है। जो डरपोक डर के मारे घर से बाहर नहीं निकल सकता, उसी की देह में एकिलिस या सिकन्दर की, सीजर या हनीबाल की, नेपोलियन अथवा इपामिनन्डास की, ब्रासिडास अथवा लाइसेंडर की, भीम अथवा अर्जुन की देह का अंश हो तो कोई अचरज की बात नहीं। राम के शरीर में सम्भव है कि फालडेरन अथवा लैप डी वेगार, गेटे अथवा शिलर, पिट्रार्क अथवा डान्टे, कर्नेली अथवा रेसाइन, शेक्सपियर अथवा कालिदास, होमर अथवा वर्जिल, व्यास अथवा वाल्मीकि की आत्मा रही हो। सम्भव है कि मोहन की देह स्कॉलिगर अथवा मेगलियाबिक की विशिष्ट-देह के उपकरण से बनी हो। यह जो हंस-पुच्छ लेखनी है, संभव है कि इसके भीतर रूसो अथवा वाल्टेयर मौजूद हों। इस मसिपात्र में हो सकता है कि शाक्यसिंह अथवा कोम्ट हो। यह हृदय जिसके लिये लालायित है, संभव है कि वह इसी हृदय में हो। मनुष्य की देह में प्रति क्षण आणविक परिवर्त्तन हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति प्रति सातवें वर्ष नया कलेवर धारण करता है। उस सदा होते रहनेवाले परिवर्त्तन के प्रवाह में तैरता हुआ उस देह का परमाणु संभव है कि इस देह में मिल रहा हो।

जगत में कोई बात आश्चर्य की नहीं है, और सभी कुछ आश्चर्यजनक है। जो चला गया, सारा जगत जिसके चले जाने से अंधकारमय हो गया, वह फिर लौटकर आ सकता है—चाहे युगयुगान्तर मे हो, चाहे कल्पान्तर में हो। वह अकलंक चन्द्रमा आकर फिर भी इस आकाश में दिखलाई देगा। पुनर्जन्म असंभव नहीं है। उसमे—उस अमूल्य निधि में—जो जो चीजें थीं, सब की सब हैं। कोई वस्तु बिलकुल विलुप्त नहीं होती। सब कुछ है, केवल एकत्र नही है। वे सब उपकरण जगत् मे विराजमान् हैं। जिस दिन उनका एकत्र संघटन होगा, उसी दिन—सोचते हुए भी हृदय थिरक उठता है, प्राणों के भीतर रोमाच हो जाता है—उस दिन फिर ससार मरुभूमि में वह सुकुमार, वह मनोहर, वह सुन्दर कुसुम खिलेगा—दसो दिशाओं को उज्ज्वल करता हुआ जगत से जगदन्तर पर्य्यन्त लहराता हुआ वह सौरभ विश्व के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त पर्यंत अपने पवित्र प्रवाह से पवित्र करता हुआ खिल उठेगा। पुनर्जन्म असंभव नहीं है। हिन्दू धर्म्म में ऐसी कोई बात नहीं जो निरी भ्रमपूर्ण हो, ऐसा कोई मत नहीं जो हँसकर उड़ा देने लायक हो। जो चिन्ताशील है, वह सदा यही कहेगा कि हिन्दू धर्म्म सब धर्मों से अच्छा है। ईश्वर निराकार है, यह दिल्लगी की बात है। देह से निरपेक्ष तो कोई चैतन्य जीव इस जगत में दिखलाई ही नहीं देता। जब तक नहीं देखूँगा, तब तक नहीं मानूँगा। जगत का कारण इच्छामय है, यह बात मूर्ख लोग कहा करते हैं। एक कारण

का एक कार्य होता है। जिस कारण से इस जगत की उत्पत्ति हुई है, उस कारण से दूसरी तरह की सृष्टि होना असंभव है। ईश्वर सर्व-शक्तिमान् और दयामय है, यह प्रलाप मात्र है। अपने अपने हृदय से पूछ देखो। एक जीव पृथ्वी में आता है। वह मर सकता है, अकर्मण्य हो सकता है, पृथ्वी का बोझ हो सकता है। किन्तु केवल उसके संसार-प्रवेश के लिये और एक उत्कृष्ट-तर जीव को मृत्यु-यंत्रणा भोगनी पड़ती है। उस यातना से न कोई लाभ है, न कोई विपद दूर होती है, न कोई उद्देश्य पूरा होता है, न किसी का सुख बढ़ता है, न किसी का दुःख घटता है। तो भी वह यम-यातना भोगनी ही पड़ती है। निरर्थक यातना देना जिसका काम है, वह निष्ठुर है, वह निर्दय है। किन्तु क्या कहते कहते क्या बक गया! वह फिर आ सकती है। जो चली गई है—जगत की माधुरी हरण कर, हृदय के परदे परदे में आग सुलगाकर, सोने के संसार को छार खार कर, सुख के पात्र में विष घोलकर, अन्दर बाहर सर्वत्र नैराश्य फैलाकर जो चली गई है, वह फिर लौटकर आ सकती है। पर मैं पागल तो नहीं हो गया हूँ? कहाँ वह और कहाँ मैं! वह प्रेम कहाँ है? वह सुन्दर संसार कहाँ है? परिप्लुत हृदय कहाँ है? हाय मैं मर क्यों न गया! जिस समय वह धोखा देकर चली गई, उसी समय उसके पीछे पीछे क्यो न चला गया! जिस समय उस मुखड़े पर मृत्यु की विकट छाया पड़ी, उसी समय जहर क्यों नहीं खा लिया! वह चिता जो रात के अन्धकार

को दूर करती हुई भागीरथी-सैकत में उजाला किए हुए थी, उसी में क्यों न कूद पड़ा ! उस सोने की सी देह की बची खुची हड्डियों को जब कलेजे पर पत्थर रखकर प्रवाह करने गया था, उसी समय क्यों नहीं जल में डूब मरा ! क्यों न फाँसी लगाकर मर गया !

कलेजा उथल-पुथल होने लगा—चारों ओर अन्धकार दिखलाई पड़ने लगा। कातर स्वर से, उद्भ्रान्त भाव से चिल्ला उठा—"प्राणाधिके ! तुम कहाँ हो ? मेरे हृदय के आलोक, मेरे बाहर के अन्तर, मेरे नयनों के मणि, मेरे सर्व्वस्व के सर्व्वस्व, मेरे सब कुछ, मेरे जीवन के सर्वस्व, मेरी तुम कहाँ हो ?" दूसरे पार से कठोर प्रतिध्वनि ने कठोर स्वर से उत्तर दिया—"अब कहाँ !" आकाश उसी स्वर में स्वर मिलाकर गूँजता हुआ बोला—"अब कहाँ ?" यह कठोर स्वर जब दूर पहुँचकर विलीन होने लगा, तब बोला—"अब कहाँ !" मैं स्तम्भित हो रहा। मुहूर्त्त भर के लिये अंतर्जगत् का अस्तित्व लुप्त हो गया। हाय ! किस मूर्ख ने विधाता को प्रतिध्वनि की सृष्टि करने को कहा था ?

([illegible])

...ाहित्यिक चंद्रमा

...चन्द्रमा पृथ्वी से कितनी दूरी पर है, उस... ...ह किससे प्रकाश पाता है, आदि बातें जाननी हों तो ज्योतिर्विज्ञानों से पूछिए। वे सर्वज्ञ हैं! आकाश-पाताल एक कर रहे हैं! इतना ही नहीं, उनके हाथ में ईश्वर की अस्ति तक का भाग्य-निर्णय है।

हमें इन सब प्रश्नों से कुछ मतलब नहीं। आग जाने, लुहार जाने। हम तो उस चन्द्र की चर्चा चलाने बैठे हैं, जो साहित्य-संसार का शृंगार, संयोगियों का सुधा-सार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भांडार एवं कल्पनाओं का आधार है। हमारे चन्द्रमा का जन्म समुद्र से हुआ है। वह कुमुद-बांधव तथा रोहिणी-वल्लभ है। लक्ष्मी माता का सगा सहोदर होने से, हम लोग उसे 'चन्दा मामा' भी कहते हैं। साहित्य विज्ञान में द्विजराज, सुधाकर, मृगलांछन आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख किया गया है। वह भगवान भूतभावन की भालस्थली का भव्य भूषण है। विष्णु का मन ही है। चन्द्रमा न होता, तो बेचारे कवि नायक-नायिका के मुख-मंडल की तुलना किससे करते? भली बुरी बातें किसे सुनाते? कुमुद

और चकोर की प्रीति किसके साथ जोड़ते ? और तो और, यामिनी-कामिनी का पाणिग्रहण किससे कराते ?

संस्कृत साहित्य में चन्द्रमा को लक्ष्य कर कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डाले हैं। श्रीहर्ष का चन्द्रोपालंभ अद्वितीय और अपूर्व है। कालिदास और भवभूति ने भी कहीं कहीं इस विषय पर कलम तोड़ दी है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण एवं रस-गंगाधर प्रभृति ग्रन्थों में चन्द्र पर ऐसी ऐसी साहित्यिक सूझें मिलती हैं जिन्हें पढ़कर हृदय मंत्रमुग्धवत् हो जाता है। वास्तव में कवियों के लिये चन्द्रमा एक ऐसा आवश्यक अंग हो गया है कि उसके बिना संयोग या वियोग शृंगार में चमत्कार आ ही नहीं सकता। इस पर जितनी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं, उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे विषय पर हों। संस्कृत के एक कवि ने उत्प्रेक्षाओं की क्या ही अनोखी और चोखी माला गूँथी है—

लक्ष्मीक्रीड़ातड़ागो, रतिधवल गृहं दर्पणो दिग्वधूनां,
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनोमन्मथस्यात पत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरसरित्पुंडरीकं, मृगांको,
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारका गोकुलस्य॥

जान पड़ता है, यह चन्द्रमा भगवती लक्ष्मी का केलि-सरोवर है अथवा त्रिलोक-सुंदरी रति का धवल-धाम है। क्या दिशा रूपी ललनाओं के मुख देखने का स्वच्छ दर्पण या निशा रूपी श्याम लता का श्वेत पुष्प तो नहीं है ? संभव है —

कामदेव का श्वेत छत्र या भगवान् भूतनाथ का पिण्डीभूत अट्टहास हो। कहीं आकाश-गंगा में विकसित कमल का फूल न हो! हो न हो, यह कौमुदी रूपी सुधा का सरोवर है। कौन कहता है! हमें तो यह निश्चय है कि तारा रूपी गौओं के बीच में यह एक सुन्दर सफेद बैल है।

खूब! एक से एक बढ़ी हुई सूझ से काम लिया गया है। आकाश पाताल को एक कर दिया है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने, चन्द्रमा पर, क्या ही सुन्दर कल्पनाओं से काम लिया है—

हंसो यथा राजतपंजरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुंजरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥

पिंजड़े के अन्दर जैसे हंस, मंदराचल की गुफा में जैसे सिंह तथा मतवाले हाथी पर जैसे शूर वीर शोभायमान होता है, उसी प्रकार आकाश के बीच में चन्द्रमा विराजमान हो रहा है। 'सिंहो यथा मन्दर-कन्दरस्थः' की छाया पर गुसाईं तुलसीदास ने 'पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी' लिख कर 'यद्रामायणे निगदितं' वाला अपना प्रवचन सिद्ध किया है। कवि-कल्पना के आचार्य्य कवि केशवदास ने भी चन्द्रमा का विलक्षण वर्णन किया है—

फूलन की सुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि द
दर्पन सों ससि श्रीरति को। आसन काम महीपति क
मोतिन को श्रुति भूषन भनो। भूलि गई रवि की तिय मनो

अंगद को पितु सौं सुनिये। सोहत तारहिं संग लिये॥
भूप मनोभव छत्र धरेउ। लोक वियोगिन को विडरेउ।
देव-नदी जल राम कह्यो। मानहुँ फूलि सरोज रह्यो॥
फेन किधौं नभ सिंधु लसै। देव-नदी जल हंस बसै।

चारु चन्द्रिका सिंधु में सीतल स्वच्छ सतेज।
मनो सेषमय सोभिजै, हरिणाधिष्ठित सेज॥

इन सब में एक कल्पना बड़ी ही अनूठी है। दिन भर के परिश्रांत सूर्य्य संध्या समय अपनी उत्कंठित रमणी के यहाँ जा रहे हैं। पति का आगमन सुन पतिव्रता कामिनी पति से मिलने को तुरंत दौड़ी आई। श्रृंगार तक ठीक ठीक नहीं हो पाया था। उतावली में उसका एक कर्णफूल छूट गया। यह चंद्रमा वही कर्णफूल है!

कभी चंद्रमा मन्दाकिनी का धवल कमल कहा जाता है, तो कभी आकाश रूपी समुद्र का फेन। कहीं वह रति का दर्पण बन जाता है, तो कहीं कामदेव का राज-छत्र। कल्पनाओं का कुछ ठिकाना है! सुन्दर मुख के लिए तो सिवा चंद्र के दूसरी उपमा ही नहीं। इस सब मान-प्रतिष्ठा से चंद्रमा को बड़ा घमंड होगा। मन ही मन कहता होगा कि मेरे समान सुन्दर, शील और सम्मान-पात्र कदाचित् ही कोई हो। पर चंद्रदेव! इस घमंड में न भूले रहना। जिन कवियों ने तुम्हें सातवें अर्श पर चढ़ा रखा है, वही तुम्हें फर्श पर गिराने को तैयार हैं। कवियों का क्या भरोसा? ये

साँप के बचे हैं। इनसे बहुत बच बच कर चलना चाहिए। देखो, इन लोगों ने जितनी तुम्हारी प्रशंसा नहीं की, उतनी निंदा कर डाली है। सीता जी के मुख से तुम्हारी पटतर दी जाने को थी, पर विचार करने पर यह मालूम हुआ कि ऐसा करना महा अनुचित है। तुम तो उनके मुख के आगे कुछ भी नहीं। देखो न—

जन्म सिन्धु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंक॥

इतना ही नहीं, तुम में और भी कई दोष हैं।

घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई। ग्रसइ राहु निज सन्धिहि पाई
कोक सोकप्रद पङ्कज-द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही
बैदेही मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें
—तुलसी।

तुम्हारे साथ उपमा देने के विचार मात्र से प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ेगा। तुममें सबसे बड़ा ऐब तो यह है कि सदा विरही जनों को अपनी शीतल किरणों से जलाया करते हो। बड़े विरोध की बात है। कहीं शीतलता में भी दाहकता होती है? हाँ, अवश्य न जाने किसने तुम्हारा 'शीतकर' नाम रख दिया!

हौंही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाम।
कहा जानि कै कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाम॥
—बिहारी।

एक विरहिणी नायिका कहती है—विरह-वश मैं ही बावली

हो गई हूँ, या गाँव भर बावला है ? ये लोग क्या जान कर इस अङ्गार को 'शीतकर' कहते हैं ?

तू बावली नहीं है, गाँववाले ही बावले हैं। अरी, यह चन्द्रमा ही नहीं है। मूर्ख लोग इसे चन्द्रमा या शीत-कर कहते होंगे। फिर कौन है ? ग्रीष्म ऋतु का प्रचण्ड मार्तण्ड। देखती नहीं है, अङ्गारों के समान अपनी विषम किरणों से समस्त संसार को भस्मासात् करता हुआ यह साक्षात् सूर्य निकल रहा है—

अंगार प्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं।
मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशांकीकृतः ॥

—पण्डितराज जगन्नाथ।

फिर भी सन्देह है ?

विष संयुत कर निकर पसारी। जारत विरहवन्त नर नारी।—तुलसी

वास्तव में यह धधकती हुई आग का एक बड़ा भारी गोला है। नहीं, इसे जलता हुआ भाड़ कहना चाहिए। विरही जनों के भूनने के लिए ब्रह्मा ने इसे बनाया है। यह भी संदेह होता है कि कहीं यह विषैला सफेद साँप न हो। शेषनाग के वंश के साँप सफेद होते हैं। सम्भव है, उसी वंश का यह भी हो। महाकवि गंग ने भी चंद्रमा को साँप ही साबित किया है—

सेत सरीर हिये विष स्याम कला फन री मन जान जुन्हाई।
जीभ मरीचि दसों दिसि फैलति काटति जाहि वियोगिनि ताई॥
सीस तें पूँछ लौं गात पन्यो पै डसे बिन ताहि परै न रहाई।

सेस के गोत के ऐसे ही होत हैं चंद नहीं ये फनिन्द है माई॥

मरते मरते भी दुष्टों की दुष्टता नहीं जाती। सिर से पूँछ तक इसका शरीर गल गया है, फिर भी इस साँप को काटे बिना कल नहीं पड़ती!

इसमें संदेह नहीं कि इसकी किरणें तीक्ष्ण और विषैली हैं। पत्थर तक इन किरणों से पिघल कर मोम हो जाता है, फिर मनुष्यों का पूछना ही क्या। तिस पर सुकुमार शरीरवालों की तो और भी मौत है!

रात्रिराज सुकुमार शरीरः कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं चन्द्रकान्त दृषदोपि गलन्ति॥
—मंखक।

यह बिलकुल सफेद झूठ है कि चंद्रमा का नाम सुधाकर है। सुधाकर होता तो भला क्यों बेचारे वियोगियों की हत्या सिर पर लेता? पर ईश्वर बड़ा मालिक है। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल देता है। इस निर्दय चन्द्रमा की भी अकल ठिकाने लगानेवाला कोई है। और वह है वीरवर राहु! ग्रहण के समय एक न चलती होगी। राहु के आगे, जनाब चाँद साहब, आपकी सारी चालाकी चम्पत हो जाती होगी। उस दिन आपको छठी के चावल याद आते होंगे। न जाने, राहु के कराल गाल से तुम कैसे जीवित निकल आते हो? शायद राहु तुम्हें जान बूझ कर उगल देता है, क्योंकि तुम्हारी विष ज्वाला उसे सहन न होती होगी। अच्छा होता, यदि किसी न किसी

तरह वह तुम्हें स्वाहा कर देता। पर पापियों की आयु बड़ी लंबी होती है। तुम काहे को मरोगे! चन्द्रमा, तुमने लगभग सभी पाप किये। न जाने अन्त में तुम्हारी क्या दुर्गति होगी। तुम्हारे पीछे तुम्हारे बाप समुद्र की तो पूरी दुर्दशा हो ही चुकी, अब तुम्हारी चाहे जो हो। न तुम सरीखे कुपूत होते, न बेचारे को इतनी आफतें भोगनी पड़तीं।

एरे मतिमन्द चन्द धिग है अनन्द तेरो
जो पै विरहिनि जरि जात तेरे पाप तें।
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि संग देखो सिर छाप तें।
कहै मतिराम हाल जाहिर जहान तेरौ,
बारुनी के बासी भासी रवि के प्रताप तें।
बाँध्यो गयौ, मथ्यौ गयौ, पियो गयौ, खारो भयौ,
बापुरो समुद्र तो कुपूत ही के पाप तें॥

रामचन्द्रजी ने बाँधा, देवताओं और राक्षसों ने अमृत के लिए मथन किया, अगस्त्यजी ने आचमन कर डाला, और खारा तो है ही। बेचारे समुद्र को तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगना पड़ा।

कर्म करै कोउ और ही, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानइ जोग॥

—तुलसी।

हे मृगलाञ्छन! पाप छिपाये नहीं छिपता, किसी न किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पान

करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गये। घटने बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुँह बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। गुरु-पत्नी-गमन क्या छोटा मोटा पाप है? मदिरा-पान क्या बट्टे खाते जायगा? वियोगियों का जला देना क्या हँसी-खेल है? अभी तो जरा सी कालिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर ही कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं। आलम कहते हैं—

निधु ब्रह्म कुलाल को चक्र कियो
मधि राजति कालिमा रेनु लगी।
छवि धौं सुरभीर पियूख की कीच
कि बाहन पीठ की छाँह रगी॥
कवि आलम रैनि सँजोगिनी है
पिय के सुख सगम रंग पगी।
गये लोचन बूड़ि चकोरन के
सुमनो पुतरीन की पाँति जगी॥

अंत की क्या ही अनोखी सूझ है—"गये लोचन बूड़ि चकोरन के, सुमनो पुतरीन की पाँति जगी"। चकोरों ने तुम्हारी सुन्दरता देखते देखते अपनी आँखें डुबो दीं, तल्लीन कर दीं। यह कालिमा उन्हीं की पुतलियों की है, आँख के तारों की है। चकोर की लगन भी आदर्श रूप है। अहा!

चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चन्द मयूख। —बिहारी।

चकोर अंगार की चिनगारियाँ क्यों चुगता है ? इसलिए कि आग खाकर मर जाऊँ। फिर? भस्म हो जाऊँ और वह भस्म शिवजी अपने मस्तक पर चढ़ावें। चंद्रशेखर के ललाट पर प्यारे चंद्रमा का वास है ही। बस, वहाँ उससे भेंट हो जायगी। आग चुगने का यही तात्पर्य है।

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होइ यह अंग।
ताहि रमावैं शिव तहाँ, मिलै पीउ ससि संग॥

कुमुद-बांधव, तुम्हें भी चकोर का कुछ खयाल है ? न होगा, तुम बड़े ही कठोर हो। तुम्हारा हृदय एक दम काला है।

विष रस भरा कनक घट जैसे।

अस्तु। तुम्हारी कालिमा पर गुसाईं तुलसीदास जी ने भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। श्रीरामचंद्रजी के पूछने पर सुग्रीव प्रमुख मंत्री उत्तर देते हैं—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि की छाई।
मारेहु राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब विधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा।
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं॥

मंत्रियों से यथेष्ट उत्तर न पाकर प्रभु स्वयं बोले—

कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥

भक्तवर हनुमानजी ने हाथ जोड़कर कहा—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति तेहि उर बसत, सोइ स्यामता भास॥

बलिहारी ! क्या ही अनोखी उक्ति है !

अब तक तो यही सुनने में आता था कि चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है, पर बेनी कवि इस संबंध की एक निराली ही बात बतला रहे हैं। उनकी राय में चन्द्रमा की उत्पत्ति यों हुई है—

राधे को बनाय विधि धोयो हाथ जाम्यो रंग,
ताको भयो चंद्र कर झारे भये तारे हैं।

जब ब्रह्मा राधिका जी को बना चुका, तब हाथ धोकर चुप-चाप बैठ गया। समझ गया होगा कि अब इनसे सुन्दर कौन बन सकेगा! हाथ धोने से जो रंग छूटा, उसका, जम जाने पर, चन्द्रमा बन गया; और हाथ झाड़ देने से जो इधर उधर बूँदें गिरीं, वही तारे हो गये। स्यात् इसी कारण से शिवजी ने इसे अपने मस्तक पर धारण किया हो। पर भगवान भूतभावन की कृपा वंक मयंक पर है, पूर्ण मृगांक पर नहीं। पद्मकोट के रसिक भ्रमर पं० श्रीधर पाठक ने इस वंक मयंक पर बड़ी ही उत्तम उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं—

दिसि भामिनि भ्रूभंग, काल कामिनि निहँग असि।
कै जामिनि रहि अधर बिंब सौं मंद हाँसि हँसि॥
मंदाकिनि तट पर्‍यौ तृषित जन-हीन मीन कोइ।
तड़पि रह्यौ तन छीन व्योमचर कै नवीन कोइ॥
वृत्र-विदारक इन्द्र-कुलिस की कुटिल नौंक तू।
निसि विरहिनि तन लगी मदन की किधौं जौंक तू॥
निसा जोगिनी भाल भस्म को बाँको टीको।

कै माया महिषी किरीट छाया सुश्री कौ ॥
कै सुमेरु सुचि वर्न स्वर्न सागर को कौंड़ा ।
कै सुर-कानन कदलि मूल को कोमल बौंड़ा ॥
किधौं स्वर्ग फुलवारी के माली को हँसिया ।
कै अमृत एकत्र करन की एक अँकुसिया ॥
रवि-हय खुर की छाप किधौं, कै नाल नुकीली ।
काल चक्र की हाल परी खंडित, कै कीली ॥
नभ आसन आसीन कोई कै तपोलीन रिसि ।
कै कछु जोति मलीन, कृसित सोइ कलाहीन ससि ॥

सब ने षोडश कला-युक्त चन्द्रमा का वर्णन किया है, पर हमारे पाठक जी ने दो ही कलावाले वंक मयंक पर कमाल हासिल कर दिखाया है ।

मयंक ! तुम सदा टेढ़े रहते, तो राहु को तुम्हें ग्रसने का कभी साहस न होता । कहा भी है—

वक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू ।

वक्र चन्द्रमा से राहु इसी से डरता है कि कहीं यह जोंक की तरह चिपट कर रक्त न चूस ले, अथवा हँसिया की तरह काट कर काम तमाम न कर डाले । पर सदा एक सी स्थिति में रहना चन्द्रमा के भाग्य में ही नहीं लिखा । पौष्टिक पदार्थों का सेवन करते करते जैसे तैसे पूर्णिमा तक हृष्ट पुष्ट हुए भी, तो फिर रोग ने आ घर दबाया । बीमारी बढ़ती ही गई । यहाँ तक कि अमावस की रात काल-रात्रि हो गई ! इस

रोग को स्वर्ग के वैद्यराज अश्विनीकुमार तक दूर नहीं कर सके, औरों की तो गिनती ही क्या ! हाँ, एक उपाय से निस्संदेह चन्द्रमा का रोग नष्ट हो सकता है। यदि वह विरही जनों का रुधिर पान करना छोड़ दे, तो मिनटों में बीमारी चली जाय। कुपथ्य करने से कहीं औषध प्रभाव दिखा सकती है ? अब भी चन्द्रमा परहेज से चलने लगे तो एक भी रोग न रहे। सदा हृष्ट पुष्ट रहे, नित्य ही पूर्णिमा का आनन्द भोगे। पर वह दुर्बुद्धि हमारे उपाय के अनुसार क्यों चलने लगा !

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं। ताकी मति पहिलेहि हरि लेहीं।

निशानाथ ! अब भी चेत जाओ, नहीं तो कोई तुम्हें कौड़ी दाम पर भी न पूछेगा। हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाये जानेवाले हो। महाकवि बिहारी को तुम्हारी जरूरत नहीं रही। उन्हें एक ऐसी चंद्रमुखी नायिका मिल गई है जो नित्य ही पूर्णिमा की छटा देती है। असली पर्व की पूनों जानने के लिए पंचांग से काम ले लिया जाता है। अब तुम किस काम के रहे ?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास।
निन प्रति पून्यो ही रहै, आनन ओप उजास॥

कहो, खारिज हुए न ? पेंशन की भी आशा न करना, क्योंकि तुम्हारे और तो सब कसूर माफ हो जायँगे, पर एक माफ न होगा। तुमने एक दिन भगवान् कृष्ण की अवज्ञा की थी। वह तुम्हें बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश अनसुना कर

दिया ! यदि तुम नीचे उतर कर नन्द-नन्दन का मनोरंजन कर देते तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता ? बालगोविन्द ने तुम्हें लाल लाल खिलौना समझा था। तुम्हारे साथ हँसते, नाचते, कूदते; पर यह सुख, यह रस तुम्हें नहीं बदा था ! श्रीकृष्ण तुम्हें देख कर कैसे मचल गये हैं ! अपनी यशोदा मैया से कहते हैं—

मैया यह मीठो कै खारो। देखत लगत मोहि यह प्यारो ॥
देहि मँगाय निकट मैं लैहौं। लागी भूख चन्द मैं खैहौं ॥

स्यात् इसी से न आये होगे कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे सचमुच ही न खा जायँ। किन्तु यह तुम्हारा अज्ञान है ! भगवान् तुम्हें क्या खाते, तुम्हारे काल को खा जाते, तुम्हें अमर कर देते। अस्तु।

यशोदा जी समझाने लगीं कि लला ! चन्दा के ताईं हठ न करो—

देखत रहौ खिलौना चन्दा। हठ नहिं कीजै बाल गोविन्दा ॥
मधु मेवा पकवान मिठाई। जो भावै सो लेहु कन्हाई ॥

कन्हैया नहीं माने, रोते ही रहे। यशोदा मैया ने एक थाली में पानी भर कर कृष्ण से कहा—

लेहु लाल यह चन्द्र मैं, लीन्हों निकट बुलाय।
रोवै इतने के लिए, तेरी स्याम बलाय ॥

थाली मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देख कर बालकृष्ण कुछ शान्त हुए; पर जब पकड़ने से वह हाथ में न आया, तब फिर रोने लगे, फिर मचल गए—

रोग को स्वर्ग के वैद्यराज अश्विनीकुमार तक दूर नहीं कर सके, औरों की तो गिनती ही क्या ! हाँ, एक उपाय से निस्संदेह चन्द्रमा का रोग नष्ट हो सकता है । यदि वह विरही जनों का रुधिर पान करना छोड़ दे, तो मिनटों में बीमारी चली जाय । कुपथ्य करने से कहाँ औषध प्रभाव दिखा सकती है ? अब भी चन्द्रमा परहेज से चलने लगे तो एक भी रोग न रहे । सदा हृष्ट पुष्ट रहे, नित्य ही पूर्णिमा का आनन्द भोगे । पर वह दुर्बुद्धि हमारे उपाय के अनुसार क्यों चलने लगा ।

"जाको प्रभु दारुन दुख देहीं । ताकी मति पहिलेहि हरि लेहीं ।

निशानाथ ! अब भी चेतजाओ, नहीं तो कोई तुम्हे कौड़ी दाम पर भी न पूछेगा । हमने तो यहाँ तक सुना है कि तुम अपने पद से हटाये जानेवाले हो । महाकवि बिहारी को तुम्हारी जरूरत नहीं रही । उन्हें एक ऐसी चंद्रमुखी नायिका मिल गई है "जो नित्य ही पूर्णिमा की छटा देती है । असली पर्व की पूनों जानने के लिए पंचांग से काम ले लिया जाता है । अब तुम किस काम के रहे ?

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पून्यो ही रहै, आनन ओप उजास ॥

कहो, खारिज हुए न ? पेंशन की भी आशा न क्योंकि तुम्हारे और तो सब कसूर माफ हो जायँगे, माफ न होगा । तुमने एक दिन भगवान कृष्ण की थी । वह तुम्हें बुलाते ही रहे, पर तुमने गर्ववश

(१६)

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम-उम्र लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की स्वाभाविक शक्ति होती है, ईश्वर-दत्त होती है। जो चीज ईश्वर-दत्त है, वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे आज समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हाँ, कविता के लक्षणों से च्युत तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियाँ व्यर्थ हो सकती हैं। आजकल प्रायः ऐसी ही पद्य-मालिकाओं का प्राचुर्य्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य्य नहीं।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में

लउँगो री माँ चन्दा लउँगो। वही आपने हाथ गहौंगो॥
यह तो कलमलात जल माहीं। मेरे कर में आवत नाहीं॥

यशोदाजी बोलीं—लला, चन्दा तोकों डरै है। मारे डर के बेचारो भागिकै पाताल पैठि गयो—

तुम तिहि पकरन चहत गुपाला। ताते ससि भजि गयो पताला॥
अब तुमतें ससि डरपत भारी। कहत, अहौं हरि सरन तुम्हारी॥

चन्द्रदेव! यशोदा जी को धन्यवाद दो, जिन्होंने श्रीकृष्ण से तुम्हारी तरफ से इतनी अच्छी सिफ़ारिश कर दी। जाओ, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अशरणशरण, कृष्णचन्द्र तुम्हारा कल्याण करेंगे। क्या तुमने भगवान् का यह अभय वचन नहीं सुना—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच॥

बस, वही भक्तवत्सल भगवान तुम्हें निष्कलंक कर सकेंगे, वही 'वैद्यो नारायणो हरिः' तुम्हारे सब रोगों का नाश करेंगे।

(साहित्य-विहार)

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम-उम्र लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की स्वाभाविक शक्ति होती है, ईश्वर-दत्त होती है। जो चीज ईश्वर-दत्त है, वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे आज समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हाँ, कविता के लक्षणों से च्युत तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियाँ व्यर्थ हो सकती हैं। आजकल प्राय. ऐसी ही पद्य-मालिकाओं का प्राचुर्य्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य्य नहीं।

कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में

आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य्य रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने में ग्रीस के एथेन्स नगरवाले मेगारावालों से वैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाइयाँ हुईं। पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ़कर एथेन्सवालों को सुनाया। कविता का भाव यह था—

"मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बेखबर होते। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक संतुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे

देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहनेवाला है, जहाँवाले मेगरा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु ! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फौरन धो डालो। अपनी लज्जा-जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगरावालों पर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था, उसे एथेन्स-वालों ने लेकर ही चैन लिया। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इँगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्त-हिम्मती का दौर-दौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शांति थी, वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परंतु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है; क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता

है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है, उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं, उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है, तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हें यदि वह बे रोक-टोक प्रकट कर दे, तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता, पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से सच बात कहने में किसी

तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभाव-हीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में, कटु होने के कारण सच कहना भी जहाँ माना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव चीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए; अथवा जिस विषय में रोक हो, उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रय-दाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से, यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार-शास्त्र के आचार्य्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है; परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं? किसी

कवि की बे-सिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज कभी प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशंसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इन्कार कर दिया था। खुशामद-पसन्द आदमी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

कारण-वश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आमरण लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी मसनवी को उठाइए, आशिक माशूक के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अंत तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क भी यदि सचा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठँडी साँसें लेना, जीते जी अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षों से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय

पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख-शिख नायिकाभेद, अलंकार शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते। इसका फल यही हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुन कर सुननेवाले के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता। उलटे कभी कभी मन में घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है, तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्व साधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं, उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहाविरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है।

जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदोदिवाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये हैं, वही उनकी समझ में कविता है; और सब कोरी काँव काँव। इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटे सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ, तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद चूर्ण हो जाता है।"

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है, पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अँगरेजी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह विना तुकबन्दी का है; और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल खयाल न था। अँगरेजी में भी अनुप्रासहीन और बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है।

इस वजन और काफ़िये में कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िए वगैरः की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटे हानिकर हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट होने देते। काफिये और वजन को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतंत्रतापूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी कभी तो वह बिलकुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वजन या काफ़िया कविता के लक्षण का कोई

अंश नहीं, उसे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है। 'आज-कल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते हैं और उसे कविता समझ कर छपाने दौड़ते हैं, उनको यह बात जरूर याद रखनी चाहिए। इन पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं। यदि कोई सम्पादक उन्हें प्रकाशित करने से इनकार करता है तो वे अपना अपमान समझते हैं। और बेचारे संपादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन मिटाते हैं। वे यह बात बिलकुल ही भूल जाते हैं कि यदि उनकी पद्य-रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक में सहर्ष और धन्यवाद न प्रकाशित करेगा?

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसी लिए संस्कृत-वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है।

अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती है। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से ले कर पैदा होता है। इसकी बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है जिसे सुन कर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी बहुत अद्भुत बातें कह देते हैं। जो कवि नहीं हैं, उनकी पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है; उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है; और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्य्यालोचन के सिवा कवि को मानव-समाज की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन

में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उसके मन में उठा ही करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सब का काम नहीं। केवल कवि ही इसका अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इसका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा माळूम होने लगता है कि स्वयं मुझ पर ही वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

हाली के मुकद्दमे को पढ़कर, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा गया है, हमारे एक मित्र महाशय ने अलंकार शास्त्र के कुछ आचार्यों की राय लिखी है; और संक्षेपतया यह दिखलाया है कि हमारे अलंकारिकों ने कविता के लिए किन किन बातों की जरूरत समझी है। आपके कथन का आशय हम नीचे देते हैं। पाठक देखेंगे कि हाली की राय संस्कृत साहित्य के आचार्यों से बहुत कुछ मिलती है। सुनिए—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्।

' अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदः ॥

(आचार्य्य दण्डी—काव्यादर्श

अर्थात् स्वाभाविकी प्रतिभा-शक्ति (१) शब्द-शास्त्रादि और (२) लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान तथा (३) प्रगाढ़ अभ्यास यह सब मिलकर काव्य-रूपी सम्पत्ति का कारण हैं। "श्रुत" शब्द के अर्थ पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं—"श्रुतं शास्त्र-ज्ञानं लोकाचारादि ज्ञानञ्च"। पद-सृष्टि-कार्य और मानव-स्वभाव इन दोनों के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि ज्ञान है। उसका उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी और तीसरी शर्त "सृष्टि-कार्य-पर्यालोचना" और "शब्द विन्यास-चातुर्य" में किया है। प्रगाढ़ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने "आमद और आवुर्द में फर्क" इस विषय पर बहस करते हुए सिद्ध की है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् प्रतिभा शक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव में हेतु हैं। कई आचार्यों ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मान कर, व्युत्पत्ति को उसकी सुंदरता और अभ्यास की वृद्धि का हेतु माना है। यथा—

कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः ।

तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्हों ने सबसे पहली शर्त "तख़य्युल" (प्रतिभा) में लिखा है ।

इन्हीं सब बातों को हाली ने अपने मुकद्दमे में, ३७ से ५४ पृष्ठ तक, उदाहरणादिकों से पल्लवित किया है ।

सृष्टि-कार्य-निरीक्षण की आवश्यकता कवि को क्यों है ? इस बात को हाली ने "मसनवी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा, समझाया है । वे लिखते हैं—

इसी प्रकार किस्से में ऐसी छोटी छोटी प्रासंगिक बातों का बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहिदा झुठलाते हों, कदापि उचित नहीं । इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोक-वृत्तान्त से अनभिज्ञता या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बे-परवाही साबित होती है । जैसा कि "बद्रे मुनीर" में एक खास मौके और वक्त का समाँ इस तरह बयान किया गया है—

> वो गाने का आलम वो हुस्ने बुताँ ।
> वो गुलशन की ख़ूबी वो दिन का समाँ ॥
> दरख़्तों की कुछ छाँव और कुछ वो धूप ।
> वो धानों की सब्ज़ी वो सरसों का रूप ॥

आख़िरी मिसरे से यह साफ़ प्रतीत होता है कि एक तरफ़

धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़े के खिलाफ़ है, क्योंकि धान खरीफ़ में होते हैं और सरसों रबी में गेहूँ के साथ बोई जाती है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास के विश्व-विख्यात काव्य, तथा कविवर बिहारीलाल की सतसई से, इसी विषय का एक एक प्रत्युदाहरण सुनिए।

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघुवंश।

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात में शरदृतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया में बैठी हुई धान रखानेवाली स्त्रियाँ रघु का यश गाती थीं। शरत् काल में जब धान के खेत पकते हैं, तब ईख इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठ कर खेत रखा सकें। ईख और धान के खेत भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं। कवि को ये सब बातें विदित थीं। श्लोक में इस दशा का, इस वास्तविक घटना का चित्र सा खींच दिया गया है। श्लोक पढ़ते ही वह समाँ आँखों में फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहनेवाले कालिदास ने, गरीब किसानों की, नगर से दूर, जंगल से संबंध रखनेवाली एक वास्तविक घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है! यह उनके प्रकृति-पर्यालोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण—

सन सूक्यौ बीत्यौ वनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि॥

—सतसई।

पहले सन सूखता है, फिर बन-बाड़ी या कपास के खेत की बहार खतम होती है। पुनः ईख के उखड़ने की बारी आती है; और इन सब से पीछे गेहूँ के समय तक अरहर हरी भरी खड़ी रहती है।

ये सब बातें कवि ने कैसे सुंदर और सरल ढंग से क्रमपूर्वक इस दोहे में बयान की हैं। इसमें अनुप्रास की छटा आदि अन्य काव्य-गुणों पर ध्यान दिलाने का यह अवसर नहीं। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़ ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुननेवाले की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों मे न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-संगत शब्द-स्थापना के बिना

कवि की कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं, उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने में बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आज-कल के पद्य-रचनाकर्त्ता महाशयों को इस बात का बहुत कम खयाल रहता है; इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो, तो भी बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में निरर्थक 'सु' 'जु' और 'रु' का प्रयोग करता है, वह मानों इस बात का खुद ही सार्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द-कोश में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्व-प्रिय और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, बल्कि विचार-परम्परा भी सादी हो। भाषा और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब ही समझ में न आवे, या देर में समझ में आवे। यदि कविता

में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खन्दक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हों। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची नीची होने से बाइसिकिल (पैर-गाड़ी) के सवार को धचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाड़ियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द-प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ कद्र हुई भी है तो थोड़े ही दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एक दम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना

चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख़याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोल-चाल के हों तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखने जाना भाषा विज्ञान के नियमों के ख़िलाफ़ है। ख़ुद 'मुहावरह' शब्द को ही देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहाविरा' लिखने और बोलने लगे, तब उसका असल रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओं के बहु-प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ, पाँव, नाक, कान, गश, मुसलमान, क़ुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्व रूप में ले

जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल में फ्रेंच और अँगरेजी आदि युरोपियन भाषाओं के १३८ शब्द ऐसे दिये गये हैं जो फारस के फारसी अखबारों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिख जायँगे तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का खयाल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो, वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह भी उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह असलियत से खाली नहीं; फिर चाहे और लोग उसे उलटा ही क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविक अर्थात् 'नेचुरल' (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नए साँचे में ढाल कर कुछ दूर तक इधर

उधर भी उड़ान कर सकता है; पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनियाँ में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों को उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से ऐसा नहीं करते।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं; किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है, उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव

चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्ग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती, तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द जोरदार न हों, पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तेज तलवार का काम लेना जानते हैं, वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है! परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इन में से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी कभी सादगी और जोश पाये जाते हैं, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

(रसज्ञ-रंजन)

(१७)

प्रचलित और अप्रचलित झूठी बातें

मनुष्य-समाज मनुष्य को कभी खुशी के साथ झूठ बोलने के लिए आज्ञा नहीं दे सकता। कारण, यदि सब लोग सभी मामलों में केवल झूठ ही बोला करें और झूठ ही सच की जगह ले ले, तो सामाजिक जीवन पद पद पर अनेक आपदाओं से जकड़ जाय और मामूली से मामूली काम करना भी मनुष्य के लिए असाध्य नहीं तो कम से कम बड़ा ही क्लेश-साध्य तो अवश्य हो जाय। इसलिए झूठे आदमियों की सारी दुनिया निन्दा करती है। लोग उनकी उपमा शृगाल आदि धूर्त्त जन्तुओं से देते हैं, उन्हें भीरु और कापुरुष कहते हैं तथा उन्हें दण्ड देते हैं। लोग झूठे आदमियों को जमात से निकाल बाहर कर देना ही मंगल की बात समझते हैं और उसके साथ किसी तरह का सरोकार रखना लोक-परलोक दोनों को बिगाड़ना समझते हैं।

यदि तुम दिन-दोपहर, आम रास्ते पर खड़े होकर किसी की छाती में छुरा मार दो, तो तुम वीर कहलाओगे; पर जहाँ तुमने अपने या दूसरे किसी के काम के लिए कोई झूठ बात मुँह से निकाली कि तुम नराधम समझे जाने

लगोगे। यह बात उचित है कि अनुचित, सो तो हम नहीं जानते; पर शास्त्र यही कहता है, समाज की सर्ववादि-सम्मत व्यवस्था भी ऐसी ही है और इसी व्यवस्था के ऊपर वाणिज्य, व्यवसाय, भोग, विनियोग, आश्वास, विश्वास, दौत्य, दण्ड, विचार और एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य के अनेक प्रकार के कार्य-सम्बन्ध और सामाजिक यन्त्र की सारी क्रियाएँ निर्भर हैं। पर लोक-चरित्र भी कैसा विचित्र है! झूठ की इतनी बुराई और झूठे आदमियों की ऐसी बेकदरी होते हुए भी, कितनी ही झूठी बातें आजकल समाज में बड़ी इज्ज़त की निगाह से देखी जाती हैं और सभ्यता तथा शिष्ट व्यवहार सर्वत्र ही नाना प्रकार से उन सब का अनुमोदन करता है। यदि कोई एक नाम रख देना जरूरी हो, तो इस श्रेणी की झूठी बातों को 'प्रचलित झूठी बातें' और जो शिष्टाचार-विरुद्ध तथा लोक-गर्हित हों, उन्हें 'अप्रचलित झूठी बातें' कह सकते हैं। इससे कोई गड़बड़ नहीं होगी। यहाँ पर हम सब से पहले प्रचलित अर्थात् सभ्य लोगों द्वारा अनुमोदित झूठी बातों के ही कुछ उदाहरण देते हैं।

(१) "बड़े मजे से हूँ।"—मेरे जीवन की अवस्था चाहे जैसी क्यों न हो, पर मैं "बड़े मजे से हूँ।" सूर्योदय से लेकर अगले सूर्योदय तक मेरी हजारों आदमियों से देखा-देखी होती है। सभी पूछते हैं—"क्यों अच्छे हो न?" मैं भी हँस कर झट जवाब दे देता हूँ—बड़े मजे से हूँ। शरीर सौ सौ रोगों का शिकार होकर गला जाता है, हृदय अनन्त यन्त्रणा से फटा जाता है—

चाहे यह लोगों को दिखाई देता हो या नहीं—मनुष्यों की बस्ती गम्भीर अन्धकार मे तरंगें लेते हुए समुद्र की मूर्त्ति धारण कर रही है; तो भी मैं "बड़े मजे से हूँ।" मैंने जिसे हाथ पकड़ कर ऊपर उठाया है, वही खड़ा होने पर मेरे सिर पर लात मारता है, जिसे चन्दनतरु समझ कर स्नेह से छाती से लगाए रहता था, वही आज विषवृक्ष की तरह जला रहा है; जिस संसार की हरी भरी शोभा देख कर मैं प्रीति की धारा में तैर रहा था, वही आज मेरे लिये तपती हुई मरुभूमि हो गया है; जिन्हें मैं जी से प्यार करता था, जिन्हें कलेजे में छिपा कर रखे हुए था, वही आज मेरा रक्त चूसने के लिए साँप की तरह जीभ निकाल रहे हैं; तो भी मैं "बडे मजे से हूँ।" यदि मुँह खोल कर दिल की सब बातें कह डालूँ तो शिष्टाचार का उल्लंघन हो जाय, अतएव मैं "बड़े मजे से हूँ।" सामाजिकता के लिहाज से हमें सब समय, सब जगह और सभी अवस्था में अच्छा बना रहना पड़ेगा और भीतर की आग को दोहरे परदे से ढक, तनिक गरदन हिला और धीरे से मुस्करा कर सब किसी से यही कहना पड़ेगा—"मैं बडे मजे से हूँ।" नहीं तो मुझ सा असभ्य कोई न माना जायगा।

(२) "कुछ भी नहीं।"—गुप्त बातों के छिपाने के लिये आज तक जितनी तरह के वाक्यों की कल्पना हुई है, उन सब में यह "कुछ भी नहीं" बड़ा प्यारा है। युवक और युवती अकेले में बैठे हुए सौ सौ ढंग से प्रेम की बातें कर रहे हैं। इतने में बूढ़ी

दादी ने आकर पूछा—"तुम दोनों यहाँ क्या कर रहे हो?" उत्तर मिला,—"कुछ भी नहीं।" कुछ बूढ़े और बुद्धिमान् व्यक्ति स्वार्थ या सम्मान के लिए किसी बात पर ऐसे लड़ पड़े हैं कि एक दूसरे का कलेजा काटने को तैयार होते हैं। किसी ने पूछा—"आप लोग क्या करते हैं?" उत्तर मिला—"कुछ भी नहीं।" जिनके हृदय सबकी तरफ से सदा मैले रहते हैं अथवा जो लोग अपने से अधिक प्रतिष्ठित और माननीय पुरुषों के सम्बन्ध में अपने हृदय को विष का घड़ा बनाये रखने में ही अपने जीवन को धन्य मानते हैं, वे अपने बराबरवालों के हृदयों में भी डर या डाह पैदा करने के लिए अपने हृदय का विष उसके कानों में धीरे धीरे डाल रहे हैं। उनसे भी यदि कोई पूछे कि तुम उसे फुस-फुस करके क्या कह रहे हो, तो वे झट उत्तर दे देंगे—कुछ भी नहीं। एक बार गंभीर हो कर "कुछ भी नहीं" यह वाक्य कह देने से ही पूछनेवाले के मुँह में ताला लग जायगा। अब यदि तुम "कुछ भी नहीं" को "कुछ" समझो, तो यह तुम्हारी बेवकूफी है।

यह "कुछ भी नहीं" युरोप की पुर-सुन्दरियों की बड़ी प्यारी चीज है। उनका जो कुछ "कुछ भी" है, वह "कुछ भी नहीं" है। यह बात कहने सुनने में तो बड़ी मीठी है, चाहे इसका इसका अदृष्ट या दृष्टफल जैसा हो।

(३) "घर पर नहीं हैं।" (Not at home) यह बात विलायती सभ्यता का अवश्यम्भावी फल है। आजकल इस

देश के लोग भी इस रसीले फल का मजा चखाने के लिए व्याकुल दिखाई पड़ते हैं। घर के मालिक, यदि घर पर रहते हुए भी किसी काम में लगे हुए हों, तो समझना होगा कि वे "घर पर नहीं हैं।" जिनके साथ वे मिलना नहीं चाहें, उनके लिये तो वे कभी "घर पर नहीं" रहते। यदि घर में बैठे हुए इस पाप में डूबे हुए संसार में सत्य धर्म का प्रचार करने के लिए कोई सत्य-मय सद्ग्रंथ लिख रहे हों, तो भी वे कहला सकते हैं कि "घर पर नहीं हैं।" जैसे ही दरवान कहेगा कि मालिक "घर पर नहीं हैं।" वैसे ही तुम्हें लौट आना पड़ेगा। अगर तुम संदेह करके उससे फिर कुछ पूछोगे, तो तुम्हीं बेवकूफ और बदतमीज कहलाओगे।

(४) "धन्यवाद।"—Thank you Sir—जो उपकार करता है, वह बड़ा आदमी है; किन्तु जो दूसरे के उपकार को सच्चे दिल से मानता हुआ उसकी कृतज्ञता स्वीकार करता है, वह और भी बड़ा आदमी है। कारण, उपकार के मामले में धन्यवाद दान करना जितना कष्टकर है, उससे कहीं अधिक कष्टकर ग्रहण करना है। आजकल तो यह कृतज्ञता, यह धन्यवाद प्रदान "नलिनीदलगत जलमिव तरलं" हो गया है। लोग सोते-जागते, उठते-बैठते हजारों बार लोगों को धन्यवाद दिया करते हैं। मानो सारा संसार ही धन्य हो गया है। लोग बात-बात में धन्यवाद की ध्वनि सुनते हैं और मन ही मन अपने को धन्य मानते हैं। जैसा हाल बेहाल नजर आ रहा है, उससे तो मालूम पड़ता

है कि कुछ दिनों में लोग जूते खा कर भी जूते मारनेवाले को धन्यवाद देने लगेंगे ! जिसका हम मन ही मन सत्तानाश किया चाहते हैं, शिष्टाचार की रक्षा के लिए समय पाकर अभ्यासवशतः यदि हम उसे भी धन्यवाद दे बैठें, तो क्या ताज्जुब है ! अनेक प्रेमविह्वल युवा भ्रमवश अनुचित स्थान में भी अनेक समय प्रेम की बात मुँह पर ले आते हैं। इससे उन्हें लज्जित होना पड़ता है। कृतज्ञता दिखलाने के लिए परेशान रहनेवाले नवीन सभ्यों को भी एक दिन उसी तरह भ्रमवश परम शत्रु को धन्यवाद देने के लिए लज्जित होना पड़ेगा।

(५) चिट्ठी का मजमून—जिसके पास चिट्ठी लिखनी होती है, उसको अवश्य ही कुछ न कुछ कह कर संबोधन करना पड़ता है और अपने को उसका कोई न कोई बताना ही पड़ता है। झूठी बातों के लिए भी यह एक खासा मैदान है। इसकी आड़ में सैकड़ों हजारों झूठी बातें लिख डालो, कोई तुम्हारी निन्दा न करेगा। इङ्गलैण्ड में विवाहार्थी प्रेमीगण पहले एक दूसरे को आँखों का तारा, हृदय का रत्न-हार, प्राणों का प्राण, आत्मा की अन्तरात्मा, अंग का आभरण, मस्तक की मणि, स्वर्ग का देवता, देवलोक का आलोक इत्यादि असंख्य मीठे और प्रिय संबोधनों से संबोधित करते हैं। अंत में यदि कोई स्वार्थ अटक जाने से उनका विवाह नहीं होता, तो वे हरजाने के लिए धर्माधिकारी के पास नालिश कर, इन्हीं प्रिय संबोधनों को लेकर दिल्लगी करते हैं। सब देशों के राज-

पुरुषों में यह चाल है कि उनमें से अधिकांश लोग औरों की इज्जत और हकों को पैरों तले कुचल डालते हैं, मनुष्य को चूहे बिल्ली से भी अधम बनाये रखने की चेष्टा करते हैं; परंतु इन्हें जब कभी किसी को पत्र लिखना होता है, तब वह चाहे अदने से भी अदना आदमी हो, पर अपने को उसका "बड़ा ही आज्ञाकारी दास" लिखेंगे। खाने को भर पेट अन्न या पहनने को अच्छा सा कपड़ा भले ही नसीब न हो, द्वार द्वार घूमने और पराए मुँह जोहने से ही पेट भरने की नौबत आती हो, पर बाप-दादाओं में से यदि कोई कुलीन रहा हो, तो बाबू साहब के नाम के साथ "श्री १०८" लिखा जाना जरूरी है। अथवा कोई महात्मा भूल कर भी झूठ छोड़ कर सच नहीं बोलते, जिसके साथ मित्रता हो उसी की बुराई करते हैं, ताम्रपत्र पर लिखी हुई प्रतिज्ञा को भी क्षण भर में उलट देते हैं, विपद् में पड़ कर जिसके तलवे चूमते हैं, सम्पदा के दिनों में उसी का कलेजा निकालने को तैयार हो जाते हैं, जबरदस्त की लाठी सिर पर ले लेते हैं और जिससे कुछ डर नहीं रहता, उसको सताने में मान, अपमान, यश और अपयश आदि सब कुछ पुराण-प्रसिद्ध जह्नु मुनि की तरह चुल्लू में उठा कर पी जाते हैं, पर भगवान की दया या विधाता की विडम्बना से वे ऊँची कुरसी पर बैठते हैं, इसलिए 'प्रचण्ड प्रतापान्वित, दोर्दण्ड मण्डित, महामहिम, धर्मावतार' कहे जाते हैं! सारे दिन में एक बार या सपने में भी जिसका नाम हमे नहीं याद आता और जिसका

दुःख छुड़ाने के लिए हम शरीर के पसीने की एक बूँद या खजा
का एक घिसा हुआ पैसा भी खर्च करना नहीं चाहते, उसे ही हम
चिट्ठियों में प्राणाधिक तक कह डालते हैं; और जिसे धूर्त समझ
कर जी से घृणा करते हैं, विश्वासघातक समझ कर अवज्ञा की दृ
से देखते हैं और जिसकी छाया का स्पर्श होते ही सारी देह में आ
सी लग जाती है, उसे ही श्रद्धास्पद कहते भी नहीं सकुचाते।*

(६) 'माननीय बन्धु' अथवा 'Honourable frien

जिस प्रकार समुद्र मथ कर नीलकण्ठ के कण्ठ का भूषण का
कूट विष निकला था, उसी प्रकार झूठी बातों अथवा मे
मदिरामयी मिथ्या सभ्यता के महासमुद्र को मथ कर 'म
नीय बन्धु' ये दो विचित्र शब्द निकाले गये हैं। इनकी बरा
का शायद ही कोई शब्द हो। ये दोनों आधुनिक सभ्यता
अर्थ-कौशलमय नये शब्द-सागर के दो अमूल्य रत्न हैं।
सभ्यता में चढ़े-बढ़े हैं, उन्हें इन दोनों शब्दों की सच्ची म
मालूम है और उसी महिमा के आश्रय में लोग महिमामय
कर मानव जगत मे धन्य धन्य कहला रहे हैं। 'मानीय ब
की बात कहने के पहले हम 'बन्धु' के ही सम्बन्ध में
कहना चाहते हैं; क्योंकि स्त्री, पुत्र, कन्या और अन्यान्य
जनों से बन्धु कहीं अधिक प्राणप्रिय होता है। स्त्री-पुत्र

* दयामय, शरणागत वत्सल, परम गुणवान्, सुप्रतिष्ठित, परम

बन्धु हो सकते हैं, पर इस स्वार्थ-कलंकित जगत में न तो सभी स्त्रियाँ स्वामी के बन्धु का काम कर सकती हैं, न सभी पुत्र पिता के यथार्थ बन्धु होने के योग्य हैं। 'बन्धु' शब्द का अर्थ क्या है ? मेरा हृदय जिसके हृदय के साथ ओतप्रोत भाव से जुड़ा हुआ है, वही मेरा बन्धु कहला सकता है। मैंने जिसे हृदय के पतले तारों से सौ सौ बन्धनों द्वारा बाँध रखा है, जिसके हृदय को हृदय में छिपा रखा है, वही मेरा बन्धु है। जिसे देखते ही मेरी आँखें खुशी से खिल जाती हैं, नजरों के सामने चाँदनी सी छिटक जाती है, सच्चे प्रेम से जगमगाती हुई जिसकी माधुरीमयी मूर्त्ति को लाख बार देख कर भी आँखें नहीं अघातीं, जिसकी बातें कानों में अमृत टपकातीं और प्राणों में पुलक उत्पन्न कर देती हैं तथा जिसका प्रेम अन्तरात्मा को अनन्त प्रेम का अपूर्वास्वाद चखा देता है, वही मेरा सच्चा बन्धु है। ऐसी ही बन्धुता का स्मरण कर शेक्सपियर ने 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' (वेनिस का व्यापारी) नामक नाटक लिखा है और एण्टोनियो तथा बैसिनियो की बन्धुता का चित्र अंकित कर संसार भर के मनुष्यों में एक आदर्श उत्पन्न करने की चेष्टा की है। इसी महद् भाव-पूर्ण प्रीति की बात याद कर भारत के महाकवि भारवि ने लिखा है—

"अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं योहि यस्य प्रियो जनः ॥

आशय—जो जिसका प्राणप्रिय होता है, अर्थात् प्रिय बन्धु

होता है, वह उसके लिए एक बड़े ही आदर की वस्तु हो जाता है। वह चाहे कुछ भी न करे, पर आँखों के सामने बैठा रहे तो प्राण शीतल हो जाते हैं, मानो उसके पास रहना ही कोई बड़ा भारी सुख हो। उसके समीप आते ही दु ख मानो दूर हो जाते हैं और प्राण आनन्द से भर उठते हैं।

किन्तु हाय ! वह 'बन्धु' शब्द आज इस नई सभ्यता के कीचड़ में पड़ कर कैसी बुरी चीज बन गया है ! आजकल तो हर गली-कूचे में टके सेर बन्धु बिक रहे हैं। लोग कहतेहैं कि 'मछली की माँ के हृदय में कभी शोक या दु ख नहीं होता'। पर आजकल इस झूठे जगत में बन्धु के लिए भी किसी के मन में शोक या दु ख नहीं व्यापता। सभी शिक्षित व्यक्ति इसे स्वीकार करते हैं कि आजकल बन्धु के लिए किसी को कभी उद्वेग या उत्कण्ठा नहीं होती। सच पूछो तो जब से यह 'माई डियर' शब्द निकला है, तब से 'बन्धु' शब्द की कोई कदर नहीं रह गई। पुराने जमाने के लोग एक भी सच्चा बन्धु पाकर अपने जीवन को धन्य मानते थे और धर्म को साक्षी देकर उससे मित्रता का नाता जोड़ते थे। पर आजकल तो बन्धुओं का ऐसा गड्डम गड्डा देखने में आता है कि उनकी चढ़ाई के मारे घर में बैठना हराम हो जाता है। न मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम मुझे पहचानते हो। एक दूसरे के बाप-दादों का हाल जानना तो दूर की बात है, हम परस्पर एक दूसरे का पूरा नाम भी नहीं जानते, पर काम आ पड़ने पर हम लोग बड़े

गहरे दोस्त बन जाते हैं। यहाँ तो मैं तुम्हारा सत्तानाश करने की दिल में ठाने हुए हूँ, तुम्हारी जान का गाहक बन रहा हूँ, तुम्हारी शांति के पथ में रोड़े अटकाने और कीर्त्ति की चादर में कालिख लगाने को तुला बैठा हूँ, तुम्हारी रोजी छीन लेने की ताक में लगा रहता हूँ और यही सोचता रहता हूँ कि किस तरह तुम्हें जला कर मार डालूँ; पर तुम्हारी चिट्ठी में अपने को तुम्हारा 'एकान्त स्नेहानुगत बन्धु' ही लिखूँगा। यह सब तो सभ्यता की बातें हैं; सरलता के सार हैं और शिष्ट व्यवहार का मज्जागत तत्व है। इस तरह के व्यवहार से धर्म्म पर कुछ आघात थोड़े ही होता है! देवता नाराज़ थोड़े ही होते हैं!

'बंधु' ही जब इस तरह की झूठी वस्तु हो रहा है, तब 'माननीय बंधु' को तो झूठ का पहाड़ ही समझना चाहिए। अगर पहला मोदक है, तो दूसरा महामोदक समझना चाहिए। क्योंकि कहाँ तो 'बंधु' ही इतना प्यारा शब्द है; तिस पर 'माननीय' का पुचारा फिर गया। उन्होंने वणिज व्यापार में बहुत दफे बहुतों का सर्वनाश कर डाला है; पर अब तो सैकड़ों लोग उनको आशीर्वाद देने के लिए व्याकुल दिखाई पड़ते हैं। दीवालिया हो जाना या किसी की जमा डकार जाना तो कोई बड़ी बात नहीं। फिर जो लोग उनके पाप के सारथि, परिताप के साक्षी और प्रायश्चित्त के पुरोहित हैं, वे क्यों नहीं आधी रात को उनके पाद-पद्मों को हाथ में लेकर 'देहि पद पल्लवमुदारम्'

का पाठ करें ! इससे क्या होता जाता है ? उनको तो सदा, सब के सामने, हर बात में 'प्राण बंधु' कह कर पुकारना ही पड़ेगा। कारण, वे केवल बंधु ही नहीं, 'माननीय बंधु' हैं। यदि वे केवल 'माननीय' न हो कर पार्लामेंट के सभासदों की तरह "राइट आनरेबल" अथवा 'महामाननीय बंधु' होते, तब तो उनके गौरव की रक्षा के लिए भाषा का कैसा आकुंचन, विकुंचन और सम्प्रसारण करना पड़ता, यह बेचारे बदनसीब 'ज्ञानानन्द' को मालूम नहीं। पार्लामेंट की प्रथा के अनुसार ग्लैडस्टन के महामाननीय परम बंधु थे विख्यात नीतिनिट बेकन्सफील्ड; और आयर्लैंड के नेता पार्नेल के 'परम बंधु' थे प्राणप्रिय हार्कोर्ट। ऐसे ऐसे बंधुओं की बंधुता पर अपदेवतागण ही फूल बरसाया करते हैं।

(७) हलफ़नामा। यह एक बड़ा भारी और प्रसिद्ध झूठ है। पहले-पहल इसकी कल्पना सत्य की रक्षा के ही लिए की गई थी; पर अब तो यह सत्य का समूल संहार ही करता रहा है। शुक, शौनक और शातातप आदि महर्षि, ध्रुव, प्रह्लाद और उद्धव आदि भक्त और सुकरात, शाक्यसिंह, अरस्तू, पाल और गौतम आदि ज्ञान-गुरु तथा ध्यान-गुरु महात्माओं ने जिसे चित्त और चिन्ता से अगम्य और अज्ञेय बतलाया है, योगासन मारे, तप में लगे हुए साधकगण पर्वत की चोटी पर, समुद्र के किनारे पर, सूने मुकाम में या मुरदों से भरे हुए श्मशान आदि भयंकर स्थानों में दिन रात साधना और तपस्या करके भी जिन्हें न देख सके, न जान सके,

किंवा जिनका अनुभव न कर सके, बड़े बड़े वैज्ञानिक गहरी खोज करके भी जिनकी थाह न पा सके, अदालत में जज के सामने खड़े डोम चमार तक हलफ लेते समय उस खुदा को हाजिर नाजिर समझ और जान कर सच्ची बातें बयान कर रहे हैं! धर्म-संस्थापन ही जिनका रोजगार है, उनमें कोई कोई आँखें मटका कर और कोई कोई रात को मौजें उड़ाने के कारण अलसाई हुई देह से अँगड़ाई लेते हुए इसी तरह ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा करते हैं; और धर्म का मर्माघात करने को ही जिनका दुनिया में अवतार हुआ है, वे भी इसी तरह ईश्वर को हाजिर नाजिर जानते हैं। इस तरह की हरकत को न तो कोई बुरा बतलाता है, न इसकी निन्दा करता है। इस तरह ईश्वर को प्रत्यक्ष देखना बहुतों का रोजगार सा हो गया है; और कभी कभी इसके लिए उनको कैसी नसीहत मिलती है, यह भी कानून की किताबों में दर्ज है।

प्रशंसा, विनय, अभ्यर्थना और अनुताप की भाषा को भी हम साधारणतः प्रचलित मिथ्या में ही गिनते हैं। बड़े काजी खुश करने या घर पर आये हुए मनुष्य की संवर्द्धना के लिए उसकी चाहे जितनी प्रशंसा कर डालो, विनीत कहलाने के लिए चाहे जितनी नरमी दिखला लो और दीनता दिखलाते हुए हृदय का अनुताप प्रकट करने के लिए चाहे जितना झूठ बोल जाओ, सब सभ्य समाज में शोभा ही पावेगा। "चौबे जी से बढ़ कर चतुर आदमी तो इस दुनिया में कोई न होगा।"

"मुझ सा दीन-हीन और महापापी तो इस जगत में दूसरा नहीं है।" ऐसी ऐसी बातें बहुत सुनने में आती हैं। पर यदि कोई धृष्ट शिष्टता की सीमा लाँघकर पूछ बैठे कि अभी तो उस दिन आप चौबेजी के पीठ-पीछे उनकी बड़ी बुराई कर रहे थे और आज मुँह पर ऐसी तारीफ हाँक रहे हैं, अथवा यदि कह बैठे कि यदि आप ऐसे महापापी हैं तो फिर इस दुनियाँ से मुँह काला क्यों नहीं कर जाते? तब तो वे पर-प्रशंसाकारी, विनयी, अनुगत और अनुतप्त महात्मा उसी क्षण क्रोध से आग-बबूला होकर प्रशंसा, विनय, अभ्यर्थना और अनुताप की भाषा को थोड़ी देर के लिये ताक पर धर देते हैं और एक-बारगी बदले हुए सुर में कड़ी कड़ी बातें कहने लग जाते हैं। धन्य है सभ्यता! जिसे तूने अपना बाना पहना दिया, वह चाहे हृदय का पिशाच ही क्यो न हो, पर तू उसे संसार में पूज्य और प्रशंसनीय बना देती है।

हमने ऊपर प्रचलित झूठी बातों के ये कुछ नमूने दिखला दिये। अब बुद्धिमान् व्यक्ति चाहे तो ऐसे हजारों उदाहरण ढूँढ कर निकाल सकते हैं। अब अप्रचलित झूठी बातों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना काफी है कि ऊपर जिस श्रेणी के मिथ्यात्व के उदाहरण दिये गये हैं, उसके सिवा और तरह की झूठी बातें अप्रचलित श्रेणी मे आ जाती हैं। किसी पापी, नशेबाज और अत्याचारी ने, असुरों की तृष्णा और राक्षसों की क्षुधा रखते हुए, किसी सती-साध्वी कुलांगना का धर्मनाश

करने की ठान ली है। पर यदि उस बेचारी को बचाने के लिए तुम एक भी बात झूठ बोल दोगे, तो यह बात बड़ी बेजा समझी जायगी, क्योंकि यह अप्रचलित झूठ है। तुम्हारी एक ही झूठ बात से चाहे किसी की जान बचती हो, किसी पवित्र-हृदया महिला की धर्म-रक्षा होती हो या किसी भले घर के आदमी का जाति-मान बचता हो, पर संसार का नीति-शास्त्र तुम्हें सौ सौ मौकों पर झूठ बोलने की छुट्टी देकर भी इस मौके पर झूठ बोलने से रोकने को तैयार हो जायगा, क्योंकि यह अप्रचलित है। तुम्हारे झूठ न बोलने से भले ही किसी का घर बरबाद हो जाय या सैकड़ों दिलों पर बिजली गिर पड़े; पर यह मिथ्या बोलने की आज्ञा समाज नहीं दे सकता। कारण, यह प्रचलित नहीं है।

इसी से हमें फिर कहना पड़ता है कि सभ्यता, तू धन्य है। तू ही सब शक्तियों की आदि शक्ति और सब नीतियों की मूल नीति है। पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म यह सब तो तेरे बाएँ हाथ के खेल हैं! तेरी कृपा न होने से जीवों का दुःख दूर करनेवाला, दया का अवतार भी डाकू माना जाता है; और जिसकी छाया छू जाने से भी जी कुढ़ने लगता है, उस छली, पापी, धूर्त्त मनुष्य को भी तू महात्मा बना देती है।

(गोलमाल)

जाति-समस्या

संसार के इतिहास में ऐसी कोई जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सदैव अक्षुण्ण रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने उन्नति की है तो कभी किसी जाति ने अवनति। परन्तु उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच कर अंत में सभी का अवःपतन हुआ है। प्राचीन मिस्र का गौरव अब उसके ध्वंसावशेषों में है। कभी भारत की ऊर्जितावस्था थी। अब भारतीय आर्य्य जाति की गौरव-कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान है। प्राचीन ग्रीस की विश्व-विजयिनी शक्ति नष्ट हो गई। रोम का साम्राज्य अतीत काल की कथा-मात्र है। मुसलमानों की प्रचंड शक्ति के आगे संसार नत हो चुका था। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता है। आजकल युरोपीय जातियों का प्राधान्य है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अभ्युदय चिरस्थायी है। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक युरोपीय सभ्यता की समीक्षा कर उसके भविष्य के विषय में अपनी आशंका प्रकट की है। विचारणीय यह है कि किसी जाति के उत्थान और पतन के कारण क्या हैं।

करने की ठान ली है। पर यदि उस बेचारी को बचाने के लिए तुम एक भी बात झूठ बोल दोगे, तो यह बात बड़ी बेजा समझी जायगी, क्योंकि यह अप्रचलित झूठ है। तुम्हारी एक ही झूठ बात से चाहे किसी की जान बचती हो, किसी पवित्र-हृदया महिला की धर्म-रक्षा होती हो या किसी भले घर के आदमी का जाति-मान बचता हो, पर संसार का नीति-शास्त्र तुम्हें सौ सौ मौकों पर झूठ बोलने की छुट्टी देकर भी इस मौके पर झूठ बोलने से रोकने को तैयार हो जायगा, क्योंकि यह अप्रचलित है। तुम्हारे झूठ न बोलने से भले ही किसी का घर बरबाद हो जाय या सैकड़ों दिलों पर बिजली गिर पड़े; पर यह मिथ्या बोलने की आज्ञा समाज नहीं दे सकता। कारण, यह प्रचलित नहीं है।

इसी से हमें फिर कहना पड़ता है कि सभ्यता, तू धन्य है! तू ही सब शक्तियों की आदि शक्ति और सब नीतियों की मूल नीति है! पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म यह सब तो तेरे बाएँ हाथ के खेल हैं! तेरी कृपा न होने से जीवों का दुःख दूर करनेवाला, दया का अवतार भी डाकू माना जाता है; और जिसकी छाया छू जाने से भी जी कुढ़ने लगता है, उस छली, पापी, धूर्त मनुष्य को भी तू महात्मा बना देती है।

(गोलमाल)

(१८)

जाति-समस्या

संसार के इतिहास में ऐसी कोई जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सदैव अक्षुण्ण रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने उन्नति की है तो कभी किसी जाति ने अवनति। परन्तु उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच कर अंत मे सभी का अब पतन हुआ है। प्राचीन मिस्र का गौरव अब उसके ध्वसावशेषों में है। कभी भारत की ऊर्जितावस्था थी। अब भारतीय आर्य्य जाति की गौरव-कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान है। प्राचीन ग्रीस की विश्व-विजयिनी शक्ति नष्ट हो गई। रोम का साम्राज्य अतीत काल की कथा-मात्र है। मुसलमानों की प्रचड शक्ति के आगे ससार नत हो चुका था। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता है। आजकल युरोपीय जातियों का प्राधान्य है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अभ्युदय चिरस्थायी है। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक युरोपीय सभ्यता की समीक्षा कर उसके भविष्य के विषय में अपनी आशंका प्रकट की है। विचारणीय यह है कि किसी जाति के उत्थान और पतन के कारण क्या हैं।

प्राचीन काल में कितनी ऐसी जातियाँ थीं जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। उनके उत्थान-पतन के इतिहास मे हम कार्य्य-कारण का कुछ विलक्षण ही संबंध पाते हैं। हम यह देखते हैं कि कार्य्य का उद्देश्य कुछ था और उसका परिणाम कुछ दूसरा ही हुआ। धर्म की उन्नति के लिए तो आन्दोलन हुआ, पर उसका फल हुआ एक प्रबल जाति की सृष्टि। जाति उठी तो दूसरों को सत्पथ दिखाने के लिए, किन्तु स्वयं विपथगामिनी हो गई। वह अपना उद्देश्य भूल गई और स्वयं अपने नाश का कारण हो गई। जाति की उन्नतावस्था में उसके पराभव के कारण उत्पन्न हुए और जाति की दुरवस्था में उसकी उन्नति के साधन प्रस्तुत हुए। तब क्या यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जाति का उत्थान-पतन काल-चक्र का परिणाम-मात्र है? कुछ लोग यही सिद्धान्त मानते हैं।

उनका कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य-जीवन का विकास और ह्रास होता है, उसी प्रकार जाति की भी उन्नति और अवनति होती है। मनुष्य बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होकर अंत में मृत्यु के चक्र में पड़ता ही है। उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार जाति की अवस्था भी परिवर्तित होती रहती है और अंत में उसका क्षय होता ही है। परन्तु बात यह है कि जाति में वृद्धावस्था कभी आनी ही न चाहिए, क्योंकि जाति में युवक सदैव वृद्धों का स्थान लेते रहते हैं। एक जाता है तो उसके स्थान में दूसरा आता

है। इस प्रकार जाति के जीवन का अन्त ही नहीं हो सकता। यदि किसी जाति का क्षय हुआ हो, तो हमें यही समझना चाहिए कि पूर्वजों की अपेक्षा उनकी सतानो की शक्ति क्षीण होती गई है अथवा अन्य प्रबल जातियों के संघर्षण से वह जाति अपनी रक्षा नहीं कर सकी। जाति की यही अत स्थिति और बाह्य स्थिति है जिनमे परिवर्तन होने से उसकी उन्नति या अवनति होती है। अब हम इनमें से एक एक की आलोचना करेंगे। पहले बाह्य स्थिति को लेते हैं।

बाह्य परिस्थितियों में सब से पहले देश का प्रभाव पडता है। देश की प्राकृतिक स्थिति और जल-वायु के कारण जाति में कुछ ऐसी विशेषता आ जाती है जो अन्य देशो मे रहनेवाली जातियो में नहीं पाई जाती। जो लोग समभूमि में रहते हैं, उनकी अपेक्षा पार्वत्य देश के निवासी अधिक कष्ट-सहिष्णु होंगे। इसी प्रकार जो लोग सजला-सफला भूमि में कम परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं, उनकी शारीरिक शक्ति उन जातियों की अपेक्षा कम होगी जो मरु-भूमि में रह कर कठिन परिश्रम से अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। इसके सिवा सजला-सफला भूमि में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण अवश्य होता रहेगा, क्योंकि सभी मनुष्य वैसे ही देश पाने की कामना करेंगे, जहाँ अनायास उनका जीवन-निर्वाह हो सके। अतएव समभूमि और शस्य-सम्पन्न देश के निवासियों के लिए जाति संमिश्रण के कारण

जीवन में अधिक जटिलता रहेगी। इस जटिलता का प्रभाव जाति के असन-वसन, आमोद-प्रमोद तथा जीवन के साधारण कृत्यों पर भी पड़ता है। जब जीवन में सरलता रहती है, तब मोटा पहनना और मोटा खाना यथेष्ट रहता है। परन्तु यह जीवन की जटिलता में संभव नहीं रहता। आमोद-प्रमोद के कितने ही उपकरण उस समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं, जहाँ संघर्षण अधिक है। मानसिक शक्ति पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जो जाति अपने जीवन के लिए अपनी शारीरिक शक्ति पर अवलंबित है, उसे जड़ पदार्थ ही अधिक सारवान् प्रतीत होंगे। अतएव वह जो सभ्यता निर्मित करेगी, वह जड़ानुगत होगी। जिन कलाओं से जीवन में सुख स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है, उन्हीं की पुष्टि उसमें होगी। इन्द्रियों की परितृप्ति तथा जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योजना में ही उसकी सभ्यता के आदर्श निर्मित होंगे। इसके विपरीत जो जाति अनायास ही अपने जीवन का निर्वाह कर लेती है, वह शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक चेष्टा करेगी। अतएव उसकी सभ्यता आध्यात्मिक होगी। इसी आध्यात्मिक सभ्यता के कारण कभी कभी जाति संसार की इतनी उपेक्षा करने लगती है कि वह अकर्मण्य हो जाती है। इसी अकर्मण्यता का फल पतन है। जब भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता है, तब एक का प्रभाव दूसरी

पर पड़ता है। इससे वे एक दूसरी से कितनी ही बातें ग्रहण कर लेती हैं। इनसे भी जाति की गति उन्नति अथवा अवनति की ओर अग्रसर होती है।

अब हम जाति की अन्तःस्थिति पर विचार करते हैं। जातियों के पतन का कारण बतलाते हुए विद्वानों ने विलासिता-वृद्धि द्वारा जातीय चरित्र-हानि, अज्ञान की वृद्धि, वैराग्य और अकर्मण्यता आदि कारणों का उल्लेख किया है। ये सब कुशिक्षा के प्रभाव कहे जा सकते हैं। एक और कारण है जिसे हम प्राकृतिक निर्वाचन का अभाव कहेंगे। यही जाति की अन्तःस्थित व्याधि का द्योतक है। इसकी व्याख्या एक विद्वान् ने इस प्रकार की है।

जातीय उन्नति या अवनति का मतलब है—जाति के व्यक्ति-वर्ग की उन्नति या अवनति। व्यक्ति-वर्ग का अच्छा या बुरा होना दो बातों पर निर्भर है। पहली बात तो यह है कि उसके जन्मसिद्ध संस्कार कैसे हैं। दूसरी बात यह है कि उसे शिक्षा कैसी मिली है। जब कोई जन्म लेकर आता है, तब वह अपने शरीर के साथ कुछ संस्कार भी लेता आता है। यह सभी जानते हैं कि भिन्न भिन्न बालकों में शक्ति की समानता नहीं रहती। किसी में कोई शक्ति अधिक होती है, तो किसी में कोई शक्ति। शक्ति की तरह स्वभाव में भी भिन्नता रहती है। कोई स्वभाव से दयालु होता है तो कोई स्वभाव से निष्ठुर। किसी की बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो किसी की मंद। कहा

जाता है कि गधा ठोंक पीट कर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता। इस कथन में सत्यता है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा का भी बड़ा प्रभाव होता है। यहाँ शिक्षा से मतलब उन बातों से है जिन्हें मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती सहचर वर्ग से सीखता है। बालकों को अपने सहवासियों से जो शिक्षा मिलती है, वह उनके चरित्र-निर्माण में बड़ा काम करती है। जो बालक स्वभाव से दयालु होता है, वह भी निर्दयों की संगति में पड़कर क्रूर हो जाता है। इसी प्रकार कितनी ही तीक्ष्ण बुद्धि का बालक क्यों न हो, यदि उसे शिक्षा बिलकुल न दी जाय तो वह मूर्ख हो जायगा। जो बालक विलास की गोद में पले हैं, वे विलास-प्रिय अवश्य होंगे। इसी तरह जिन्हें दरिद्रता का अनुभव करना पड़ा है, वे परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु होंगे। मतलब यह है कि चरित्र-निर्माण के लिए जिस प्रकार स्वाभाविक वृत्ति आवश्यक है, उसी प्रकार उन स्वाभाविक वृत्तियों के विकास के लिए शिक्षा की भी आवश्यकता है। एक के अभाव से दूसरे का विकास असंभव है। गणित के एक उदाहरण से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए कि स्वाभाविक वृत्ति 'क' है, शिक्षा 'ख' और मनुष्य या व्यक्तित्व 'ग'। फल यह होगा क × ख = ग। अब चाहे क कितना ही कम क्यों न हो, यदि ख अधिक है तो उसका गुणन-फल ग कम नहीं होता। परंतु यदि क शून्य (०) है तो ख कितना ही अधिक क्यों न हो, उसका गुणन-फल शून्य ही

रहेगा। इसी प्रकार यदि ख शून्य होगा तो क के बड़े रहने पर भी गुणन-फल शून्य ही होगा। मतलब यह कि यदि किसी जाति की हीन अवस्था है, तो उसका कारण जानने के लिए हम देखेंगे कि उस जाति के व्यक्ति-वर्ग की स्वाभाविक वृत्तियों का ह्रास हुआ है, अथवा उनके विकास के लिए उचित अवस्था का अभाव हुआ है।

मनुष्यों की कितनी ही मानसिक वृत्तियाँ—जैसे चिन्ता-शक्ति, दया, साहस, स्वार्थ-परता, निष्ठुरता, विषय-लिप्सा—वंश-परंपरा से चली आती हैं। शारीरिक आकार तथा वर्ण की तरह हम उन्हें भी अपने माता-पिता से पाते हैं। कहना नहीं होगा कि योग्य माता-पिता की सन्तान में योग्यता प्रदर्शित होगी। प्राकृतिक निर्वाचन का फल यह है कि निम्नावस्था से भी जाति उन्नतावस्था को पहुँच जाती है। इसी प्राकृतिक निर्वाचन के कारण निर्बल आपसे आप नष्ट हो जाते हैं और सबल ही जीवित रहते हैं और उन्हीं से वंश की रक्षा होती है। इसी से समाज में योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है और पारिपार्श्विक अवस्था से संग्राम करते करते समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाता है। सभ्यावस्था में प्राकृतिक निर्वाचन का ह्रास होने लगता है। सभ्य समाज में निर्बल और रुग्ण व्यक्तियों की भी रक्षा होती है, निर्बुद्धियों को भी आश्रय मिलता है। धन, मान आदि कृत्रिम भेदों की सृष्टि होने से प्राकृतिक निर्वाचन का द्वार ही बंद हो जाता है। रुग्ण, निर्बोध,

पापात्मा व्यक्ति भी धनी या उच्च-पदस्थ होने के कारण अपने वंश की वृद्धि करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की वंश-वृद्धि से सभ्य समाज में अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के अभाव में जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है। इससे न तो उन्नति के अनुकूल स्वाभाविक वृत्ति का आविर्भाव होता है और न उनके विकास के लिए उचित अवस्था ही हो सकती है। अतएव जाति का पतन अनिवार्य है। जाति में वर्णसंकरता का दोष आ जाने से यह पतन शीघ्र हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति के उत्थान और पतन में सब से बड़ा कारण भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक संघर्ष है। जब दो जातियों का पारस्परिक संघर्ष होता है, तब उसका फल यही होता है कि जो जाति सबल होती है, वह दूसरी निर्बल जाति को दबा देती है। यदि यही संघर्ष दो समान-बल जातियों में हुआ, तो दीर्घ काल-व्यापी युद्ध अवश्यम्भावी है। जातीय उन्नति पर युद्ध का बड़ा ही घातक परिणाम होता है। युद्ध में प्रायः वही लोग सम्मिलित होते हैं, जो शक्ति-सम्पन्न हैं। परिणाम यह होता है कि जाति के शक्ति-शाली वीरों का तो युद्ध में संहार हो जाता है और जाति की वंश-रक्षा का भार निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों पर आ पड़ता है, जो जीवित रहते हैं। उनकी सन्तानों में शक्ति-

हीनता बढ़ती जाती है और अंत में जाति सर्वथा शक्ति-हीन हो जाती है। तुर्क जाति की शक्ति के ह्रास का एक प्रधान कारण यही दीर्घकाल-व्यापी युद्ध है। ग्रीस और रोम के जातीय अधःपतन का भी यही कारण है। वेरी नामक एक विद्वान ने लिखा है कि रोम में युद्धों के बाद रोमनो की संख्या अत्यन्त कम हो गई थी। संख्या-वृद्धि हुई दासों की, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे। यह सख्या इतनी हो गई थी कि सम्राट् आगस्टस ने जन-सख्या की वृद्धि के लिये धन देना आरम्भ किया था। सच तो यह है कि ग्रीस, रोम, कार्थेज, मिस्र, अरब आदि सभी देशो क पतन इसी कारण से हुआ। शक्तिशाली व्यक्तियों का क्षय औ निकृष्ट श्रेणी के व्यक्तियों की प्रधानता होने से जाति में दुर्बलत बढ़ती ही जायगी और उसका पतन अवश्यम्भावी है।

भारतवर्ष के इतिहास मे जातीय उत्थान और पतन के कित ही उदाहरण मिलते हैं। यहाँ हम उपर्युक्त सिद्धान्तों के स्पष्टीकर के लिए भारतीय इतिहास की पर्यालोचना करेंगे।

वैदिक युग में आर्यों से अनार्यों का संघर्ष हुआ। आर्य ने अनार्य्यों को पराजित कर पंजाब को स्वायत्त किया। अन जातियाँ शारीरिक गठन, मानसिक वृत्ति और नैतिक बल आर्य जाति से हीन थीं। उनसे आर्यों का व्यवहार तीन प्रक से हो सकता था। पहला यह कि अनार्य जाति को निःश उन्मूल कर देना, चाहे इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से

अमेरिका और आस्ट्रेलिया में युरोपीय जातियों ने इसी नीति का अनुसरण किया है। दूसरा ढंग है अंतर्विवाह द्वारा इन दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो जाना। मुसलमानों ने विजित जातियों से ऐसा ही संबंध किया था। परंतु इससे उनमें निकृष्ट विजित जातियों के दोष आ गये और फल यह हुआ कि उनका वंश निकृष्ट हो गया। तीसरा यह कि अपने ही समाज में उनको निम्न-स्थान देकर उनकी रक्षा करना। भारतीय आर्यों ने यही किया। आर्य और अनार्य जातियों में वर्ण-संकरता का निवारण करने के लिए वर्ण-भेद की सृष्टि हुई।

पहले पहल भारतीय आर्यों की एक ही जाति थी। क्रमश: समाज की उन्नति से उसमें श्रम विभाग हुआ। जो समाज का उत्कृष्ट अंश था, वह ज्ञान-चर्चा और शासन-कार्य में निरत हुआ। अवशिष्ट लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि में संलग्न हुए। इस प्रकार आर्यों में तीन वर्णों की सृष्टि हुई, किन्तु उनमें परस्पर वैवाहिक संबंध प्रचलित था। क्रमश: वैश्यों से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का वैवाहिक संबंध कम होने लगा। परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों में यह संबंध बना ही रहा। रामायण और महाभारत में कितने ही ऐसे ऋषियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने राज-कन्याओं का पाणि-ग्रहण किया था। उनकी संतान वर्णसंकरों में नहीं गिनी जाती थी। परंतु द्विजों और शूद्रों के सम्मिश्रण से जो वर्णसंकर जाति उत्पन्न होती थी, वह हेय समझी जाती थी।

इसी लिए वर्ण-भेद की सृष्टि कर के कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा ब्राह्मण वंश में पांडित्य क्षत्रिय वंश में शौर्य और वैश्य वंश में कला-नैपुण्य की रक्षा की गई। कहना नहीं होगा कि इसी प्रथा के कारण हिन्दू जाति विजातीय संघर्ष को सह कर अब तक जीवित रह सकी है।

अब विचारणीय यह है कि हिन्दू जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास क्यों हुआ। प्राचीन काल में उसने बड़ी उन्नति की थी। उसकी शक्ति अप्रतिहत थी, उसका वैभव अतुल था। उसने अपनी वंश-रक्षा की ओर भी ध्यान दिया। फिर उसकी अवनति क्यों हुई? बात यह है कि जो सभ्यता एकतामूलक नहीं है, वह जाति-समस्याओं को हल नहीं कर सकती। उससे केवल भेदों की वृद्धि होती जायगी। यह सच है कि भारत ने प्राचीन काल में उस बृहत् सत्य का आविष्कार कर लिया था जिसमें सभी अनैक्यों में एकता हो जाय। वह भाव उसकी सभ्यता के मूल में था। किन्तु भारतीय सभ्यता का यह आदर्श, जो एकता-मूलक था, समाज में कभी प्रचलित नहीं हो सका। समाज के संरक्षण के लिए वर्ण-व्यवस्था अवश्य अनुकूल थी। परन्तु उससे जाति-भेद की समस्या हल नहीं हो सकती। संरक्षण-नीति आत्मरक्षा के लिए उचित है, किन्तु हिन्दू समाज को सदैव आत्मरक्षा की चिन्ता तो थी नहीं। जब तक बाह्य संघर्षण हो, तब तक समाज में संरक्षण नीति सफल हो सकती है। परन्तु बाह्य संघर्षण दूर होते ही वही

नींवि समाज को संकुचित कर देती है। अल्प-संख्यक आर्य जाति ने बहु-संख्यक अनार्य जातियों पर अपनी उच्च शारीरिक और मानसिक शक्ति में विजय प्राप्त कर ली। उसने एक बृहत् सत्य का आविष्कार कर उनको अपनी जाति में सम्मिलित भी कर लिया, परन्तु वर्ण-भेद बना ही रहा। फल यह हुआ कि आर्य जाति के साथ अनार्य जातियों की भी संख्या-वृद्धि होने से समाज में भेदों की संख्या बढ़ती ही गई। आर्य जाति उस बृहत् सत्य को तो भूल गई जिसमें सभी भेदों का सामंजस्य हो सकता है, और भिन्नता पर जोर देने लगी। अतएव भारत में संघर्षण सदैव विद्यमान रहा। भिन्न भिन्न युगों में कितने ही महात्माओं ने जन्म लेकर इसी भेद को दूर कर एकता स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु यह एकता केवल आध्यात्मिक जगत् में ही रही। व्यावहारिक जगत् में उन महात्माओं की चेष्टा से नये नये पन्थों और नई नई जातियों की ही सृष्टि हुई। भिन्न भिन्न समाजों की सृष्टि से समाज की सीमा अत्यन्त संकुचित होती गई और इसी कारण समाज में श्रेष्ठ शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ। कहीं शक्ति का अति संचय होने से उसका अपव्यय होता था, तो कहीं उदीयमान शक्ति के विकास के लिए अनुकूल अवस्था ही नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि जिस वर्ण-व्यवस्था से हिन्दू जाति आत्म-रक्षा कर सकती थी, उसी से उसकी उन्नति की गति अवरुद्ध हो गई। समाज के संकुचित होने का एक दुष्परिणाम है विलासिता।

विलासिता की वृद्धि तभी होती है, जब किसी क्षुद्र सीमा में शक्ति का अति संचय हो जाता है। पुराणों में यदु वंश की पतन-कथा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। महाराज यदु के श्रेष्ठ वंश का भी पतन शक्ति के इसी अति संचय से हुआ। दूसरी बात यह है कि ऐसे समाज पारस्परिक विरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। इसका फल संघर्षण है और पारस्परिक संघर्षण के कारण शक्ति का सदैव अपव्यय होता है। इससे भी जाति की शक्ति क्षीण होती जाती है। जाति के अशक्त होने पर उसमें वर्ण-संकरता का दोष अवश्य आता है। यही कारण है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने अपनी जाति के भविष्य के विषय में जो आशंका प्रकट की थी, वह ठीक ही उतरी। प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यों अथवा गुप्तों का साम्राज्य अस्थायी ही रहा। इसका कारण समाज-भेद, वर्ण-संकरता और विलासिता-वृद्धि है। मध्य युग में मुसलमान जाति के आगमन से भारत में एक और समस्या बढ़ गई। हिन्दू जाति ने वर्ण-व्यवस्था के कारण अपने अस्तित्व को अवश्य अक्षुण्ण रक्खा; परन्तु उसमें एकजातीयता का भाव लुप्त हो गया। धार्मिक संप्रदायों और समाज-भेदों ने उसे दासत्व में ही रक्खा। इसी से उसने कभी जातीय भाव से प्रेरित होकर उठने की प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका कारण यही हो सकता है कि उसमें एक-जातीयता का भाव था ही नहीं। राजपूतों, मराठों और सिक्खों ने अपनी अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्र चेष्टाएँ कीं। उन्होंने उन्नति तो अवश्य

की, परन्तु उनका अभ्युदय क्षणस्थायी ही रहा। इसका कारण संकुचित सीमा में शक्ति का प्रसार। गुरु गोविन्द ने को एक जाति के रूप में परिणत कर अदम्य [illegible] उन्हीं शक्ति से उनका पतन भी हुआ। मराठों [illegible] भी यही दशा हुई। संघर्षण बना ही रहा और [illegible] अपव्यय होता रहा।

भारत की यह जाति-समस्या अभी तक विद्यमान [illegible] विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि भारत ने विधि-निषे[illegible] भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक संघात को दूर करने की [illegible] की है। परंतु इस प्रकार का अभावात्मक आयोजन दीर्घ काल [illegible] नहीं ठहर सकता। जिन जातियों के सामाजिक और नैतिक आचारों में भिन्नता है, उनका पारस्परिक संघर्ष तभी बंद हो सकता है, जब एकता की भित्ति प्रेम-मूलक हो। भारतवर्ष में ऐसा भावात्मक ऐक्य-मूलक आध्यात्मिक आदर्श है। सुप्त होने पर भी वह प्राण-हीन नहीं हुआ है। उसमे यह शक्ति है कि वह सभी बाह्य अनैक्यों को स्वीकार करके भी अन्तर्गत एकता को देखता है। भारतवर्ष के ज्ञान के कारखाने में वह सोने की कुंजी तैयार है जो एक दिन सभी द्वारों को खोल देगी और चिरकाल से विच्छिन्न जातियों

(१६)

उद्देश्य और लक्ष्य

प्रत्येक युवक को अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करने के पहले अपने उद्देश्य और लक्ष्य स्थिर कर लेने चाहिएँ। उनका अभाव जीवन के उपयोगों के लिए बड़ा ही घातक होता है। जो मनुष्य बिना किसी उद्देश्य पर लक्ष्य रखे जीवन आरम्भ कर देता है, उसकी उपमा उस मनुष्य से दी जा सकती है, जो बिना कोई गन्तव्य स्थान नियत किये ही रेल या जहाज पर सवार हो लेता है। वह मनुष्य न तो यही जानता है कि मुझे कहाँ जाना है और न उसे यही ज्ञात है कि रेल या जहाज मुझे कहाँ पहुँचावेगा। उसका कहीं पहुँचना रेल या जहाज की कृपा पर ही अवलम्बित है। रेल चाहे उसे काश्मीर की सीमा तक पहुँचा दे और जहाज चाहे उसे मिर्च के टापू में उतार दे। रेल या जहाज उसे चाहे जिस स्थान पर पहुँचा दे, पर स्वयं उसे उस स्थान से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। हाँ, काश्मीर पहुँचकर वह थोड़ी सी सैर जरूर कर लेगा; और मिर्च देश में संभव है कि कुछ कष्ट भी उठा ले। पर इन सबका कोई विशेष फल नहीं। वास्तविक फल की प्राप्ति केवल गन्तव्य स्थान निश्चित कर लेने से ही

होती है; व्यर्थ की जगहों पर जाकर मूठ मूठ टक्करें मारने से नहीं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सबसे पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि "मैं क्या होऊँगा।" इस प्रकार जब वह अपना उद्देश्य निश्चित कर ले, तब उस मार्ग में अग्रसर हो। अपना उद्देश्य या लक्ष्य निश्चित करने का सबसे अच्छा अवसर बाल्य और युवावस्था की संधि है। हमारा तात्पर्य उस समय से है, जब कि युवक अपनी शिक्षा आदि समाप्त कर के सांसारिक व्यवहारों में लगने की तैयारी करता हो। उस समय वह जिस बात पर अपना लक्ष्य करे, उसे बिना पूरा किये न छोड़े। ऐसा करने से उसका जीवन सार्थक होगा और उसमें दृढ़ता, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुण आप से आप आने लगेंगे। जब एक बार वह अपना उद्देश्य पूरा कर लेगा, तब उसे और आगे बढ़ने का साहस होगा और वह दूसरी बार आगे से अधिक उत्तम विषय को अपना लक्ष्य बनावेगा। इस प्रकार एक के बाद एक, उसके कई मनोरथ पूर्ण होंगे और वह जीवन की वास्तविक सफलता प्राप्त कर लेगा।

अपना उद्देश्य स्थिर करने को सफलता-शिखर की पहली सीढ़ी समझना चाहिए। इसी पर मनुष्य का सारा भविष्य निर्भर है और इसी लिए यह उसकी सफलता या विफलता का निर्णायक है। इस अवसर पर यह बात भूल न जानी चाहिए कि हमारा कथन केवल उन्हीं युवकों के लिए है जो अपने

पुरुषार्थ से जीविका निर्वाह करना चाहते हों। जिन्होंने जन्म से सदा मखमली बिछौनों पर आराम किया हो, वे यदि जीवन और उसके कर्तव्यों का यथार्थ महत्व समझते हों तो वे भी इन उपदेशों से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। पर यदि वे इन पर यथेष्ट ध्यान न देकर कोई भूल भी कर बैठें, तो उनकी उतनी हानि नहीं हो सकती; और यदि हो भी तो उसकी शीघ्र ही पूर्ति हो जाती है। पर अधिकांश लोगों को अपने शरीर और मस्तिष्क से ही परिश्रम करके रुपया पैदा करना पड़ेगा और इसी कारण अपना उद्देश्य स्थिर करना उनके लिए सब से अधिक महत्वपूर्ण है। अपने लिए ऐसा व्यापार, पेशा, नौकरी अथवा और कोई काम स्थिर करना चाहिए जो अपनी शारीरिक शक्तियों तथा परिस्थिति के बिलकुल अनुकूल हो। इसके विरुद्ध यदि वह अपने लिए कोई ऐसा काम सोचे जो उसकी योग्यता या शक्ति से बाहर हो, तो अवश्य ही उसे विफल-मनोरथ होना पड़ेगा। जिस आदमी की रुचि व्यापार करने की ओर हो, उसे यदि रेल में टिकट कलक्टर बना दिया जाय, तो भला जीवन में उसे क्या सफलता होगी? जो जन्म से तान उड़ाने का शौकीन हो, वह ज्योतिष पढ़कर क्या करेगा? एक हृष्ट पुष्ट, धीर और साहसी मनुष्य शारीरिक परिश्रमवाले कार्यों में तो बहुत अच्छी सफलता प्राप्त कर लेगा, पर विचारक या पत्र-संपादक का काम उसके किये भली भाँति न हो सकेगा। पर ये सब विषय इतने गूढ़ हैं कि साधारणतः युवक लोग इन्हें भली भाँति नहीं समझ

सकते । अतः यह कर्त्तव्य प्रधानतः विचारवान् माता-पिता का होना चाहिए कि वे अपनी संतान के लिए ऐसा काम सोचें जो सब प्रकार से उसकी रुचि, *अवस्था और शक्ति के अनुकूल हो।* यदि माता-पिता ने अपने पुत्र की रुचि समझने में कुछ भूल की तो परिणाम बुरा ही होगा। नानक शाह के पिता तो उन्हें सौदागर बनाना चाहते थे और बार बार सौदागरी के लिए रुपये देते थे; पर बाबा नानक क्या करते थे ? सब रुपये साधु-सन्तों को खिलाकर *स्वयं भगवद्-भजन में लग जाते थे।*

युवकों को उचित है कि वे अपने लिए वही काम सोचें जिसका करना उनकी शक्ति के बाहर न हो। जिस काम के लिए दिल गवाही न दे, वह कभी न करना चाहिए। पर साथ ही अनुचित *भय या आशंका के कारण अपनी शुद्ध इच्छा या प्रवृत्ति को कभी* रोकना भी न चाहिए। युवावस्था में मनुष्य स्वभावतः साहसी होता है और अच्छे या बुरे परिणाम पर उसका ध्यान नहीं रहता। इसी लिए कभी कभी वह निःशंक भाव से ऐसे ऐसे कामों का बोझ अपने ऊपर ले लेता है, जिनका पूरा उतरना उसकी *शक्ति के बाहर* होता है। अपनी शक्ति का ठीक ठीक अनुभव करने में सब से अधिक सहायता उस अनुभव-जन्य ज्ञान से मिलती है, जो कुछ कष्ट और हानि सह कर प्राप्त किया जाता है। आरंभिक *अवस्था में लोगों को जल्दी ऐसा ज्ञान नहीं होता और प्रायः इसी लिए* लोग अधिक धोखा भी खाते हैं।

इस अवसर पर एक और बात बतला देना परम आवश्यक है। अपनी साधारण पसंद को ही हमें अपनी वास्तविक और शुद्ध रुचि या प्रवृत्ति न समझ लेना चाहिए। अगर किसी को गाना बजाना कुछ अच्छा लगता हो, तो वह यह न समझ ले कि मैं संसार में दूसरा तानसेन बनने के लिये ही आया हूँ। यदि अपरिपक्व बुद्धिवाला कोई युवक किसी बड़े भारी वैज्ञानिक को देख अथवा उसका हाल सुनकर बिना उसके परिश्रम और कठिनाइयों का हाल जाने ही उसके समान बनने का प्रयत्न करे, तो अवश्य ही उसकी गिनती मूर्खों में होगी। यद्यपि ऐसी भूलें बड़े-बूढ़ों और वयस्क मनुष्यों से भी हो सकती हैं, तथापि एक अज्ञानी युवक की भूलों की अपेक्षा वह बहुत ही कम हानिकारक होंगी। इसी लिए सब कामों में बड़ों से सम्मति ले लेना और साथ ही उनकी सम्मति का पूरा पूरा आदर करना बहुत ही लाभदायक होता है। आजकल के कुछ नवयुवक नई रोशनी के फेर में पड़कर अपने बाप-दादा तथा बूढ़ों को निरा मूर्ख समझकर उनका निरादर और अपमान करने लगते हैं। ऐसे लोग प्रायः हानि ही उठाते हैं, और अनेक प्रकार के लाभों से वंचित रहते हैं। बड़ों की सम्मति से चलने में पहले-पहल भले ही कुछ कठिनता या अनुपयुक्तता जान पड़े, पर आगे चलकर शीघ्र ही अपना भ्रम प्रकट हो जाता है; और तब बड़ों के आज्ञाकारी बनने में और भी उत्तेजन मिलता है।

जो मनुष्य कठिनाइयों और विफलताओं की कुछ भी परवा न करके मार्ग के कंटकों को बराबर दूर करता जाता है, वही संसार को कुछ कर दिखलाता है। पर इतनी श्रेष्ठ योग्यता बहुत ही कम लोगों में होती है। जिन लोगों में ऐसी ईश्वर-प्रदत्त योग्यता न हो, उन्हें उचित है कि वे अपने विचारों को उत्तमतर बनावें और राग, ईर्ष्या, द्वेष आदि से सदा दूर रहें। ऐसा करने से उनका कार्य्य बहुत सरल हो जायगा और योग्यतावाले अभाव की कुछ अंशों में पूर्ति हो जायगी। जिस मनुष्य के प्रत्येक कार्य्य में सत्यता और प्रत्येक विचार में दृढ़ता होती है, वही महानुभाव कहलाने के योग्य होता है। ऐसे मनुष्य पर अनुचित प्रलोभनों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह कठिन से कठिन विपत्तियों को ईश्वरेच्छा समझकर धैर्यपूर्वक सहन करता है, और सदा शान्त तथा निर्भय होकर आपदाओं का सामना करता है। ईश्वर और सत्यता पर उसका बहुत ही अटल विश्वास रहता है। इसलिये सदा सत्य पक्ष का अनुसरण करो और अध्यवसायपूर्वक अपने काम में लगे रहो। संसार के सभी लोग बहुत बड़े विद्वान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आविष्कर्त्ता या करोड़पति नहीं बन सकते। पर हाँ, सभी लोग अपने जीवन को प्रतिष्ठित और सुखपूर्ण अवश्य बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि अप्रतिष्ठा और विफलता छोटे अथवा तुच्छ समझे जानेवाले कामों में

नहीं है, बल्कि उन कामों को अपनी शक्ति भर न करने में है
जूता सीना निन्दनीय नहीं है, निन्दनीय है मोची होकर खर
जूता सीना।

इस देश के लोगों में सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि
अपने बालकों को विद्यारम्भ कराने के समय ही निश्चय कर है
हैं कि लड़का पढ़ लिखकर नौकरी करेगा। पर स्वतंत्रतापूर्वक घ
साजी या बिसातखाने की छोटी सी दूकान करने की अपेक्षा कि
दफ्तर में १५) महीने की नौकरी को अच्छा समझना बड़ी भ
भूल है। १५) के मुहर्रिर को सबेरे दस बजे से संध्या के सात ब
तक दफ्तर में पीसना पड़ता है; और जब उतनी थोड़ी आय
उसका काम नहीं चलता, तब वह संध्या और सबेरे के स
लड़कों को पढ़ाने का अथवा इसी प्रकार का और कोई काम ढूँ
लगता है। इस प्रकार उसका सारा जीवन बड़े ही कठोर परि
में बीतता है; और वह बड़ी ही दरिद्र तथा दुःखपूर्ण अवस्था
इस संसार को छोड़कर चल बसता है। बहुत से लोग ऐसे
जो नौकरी में बहुत अधिक परिश्रम करते हैं। ऐसे मनुष्य य
किसी स्वतंत्र काम में नौकरी की अपेक्षा आधा परिश्रम भी क
तो वे अपेक्षाकृत उत्तमतर जीवन निर्वाह कर सकते हैं। पर
नौकरी के उस भूत से लाचार रहते हैं, जो उनके माता-पि
बाल्यावस्था में ही उनके सिर पर चढ़ा देते हैं।

इधर कुछ दिनों से अमेरिका के साधारण निवासियों

वकील, डाक्टर, अथवा पादरी बनाने का खब्त बुरी तरह से सवार है। उनका विचार है कि इन्हीं कामों में सबसे अधिक धन भी मिलता है और प्रतिष्ठा भी होती है। इसी खब्त के पीछे हजारों आदमी मर गये और हजारों असाध्य रोगों से पीड़ित हो गए। ऐसे लोग देहातियों और कृषकों का उत्तम स्वास्थ्य देखकर दाँतों तले उँगली दबाते और मन ही मन पछताते हैं। यही नहीं, जो पेशे उन्होंने बहुत अधिक धनप्रद समझ कर आरंभ किये थे, उन्हीं से उनकी रोटी तक ठीक ठीक नहीं चलती; और दूसरे कामों को जिनमें अच्छी आय हो सकती है, वे लोग अप्रतिष्ठा के विचार से आरंभ भी नहीं कर सकते। वहाँ के एक विचारवान लेखक ने ऐसे लोगों की दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा है कि अगर आप भिन्न भिन्न पेशों और व्यापारों को एक टेबुल में बने हुए भिन्न भिन्न आकार के—कोई गोल, कोई लंबे, कोई तिकोने और कोई चौकोर—छेद समझें और आदमियों को उन्हीं सब आकारों के लकड़ी के टुकड़े मानें, तो आप देखेंगे कि चौकोर टुकड़े गोल छेदों में, गोल टुकड़े लंबे छेदों में और लंबे टुकड़े तिकोने छेदों में रक्खे हुए हैं; अर्थात् एक दूसरे की देखा-देखी लोग ऐसे ऐसे कामों में लग जाते हैं जिनके लिए वे कदापि उपयुक्त नहीं होते; और यही उनकी विफलता और विपत्तियों का मूल कारण है।

इच्छा मात्र से ही हमारी योग्यता का कभी ठीक ठीक परिचय नहीं मिल सकता। अधिकांश लोग ऐसे ही होंगे जिनकी

इच्छाओं की कभी कोई निर्दिष्ट सीमा ही नहीं होती। हम नित्य-प्रति जिन मनोराज्यों के स्वप्न देखते हैं, वे अवश्य ही बहुत ऊँचे और दूर होते हैं। करोड़पति बनने की हमारी इच्छा मात्र ही इस बात का पूरा प्रमाण नहीं है कि हम वास्तव में करोड़पति बनने के योग्य हैं अथवा किसी समय बन जायँगे। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किसी महाकवि के दो एक काव्य पढ़कर ही स्वयं महाकवि बनने के स्वप्न देखने लगते हैं। पर वे कभी इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते कि काव्य में थोड़ी गति या रुचि हो जाने अथवा केवल थोड़े से नीरस पदों की रचना कर लेने से ही मनुष्य सफलता के शिखर पर नहीं पहुँच सकता; और वास्तव में महाकवि बनने के लिए हजारों बड़े बड़े ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक मनन करने के अतिरिक्त किसी विशिष्ट दैवी गुण की भी आवश्यकता होती है। यदि हम थोड़े बहुत जोश के साथ किसी काम में लग जायँ तो इतने से ही हमें यह न समझ लेना चाहिए कि हम उसमें सफलता प्राप्त ही कर लेंगे। जब तक हम अपनी सारी शक्तियों से उस काम में न लगें, तब तक हमें सफलता की कोई आशा न रखनी चाहिए। इसी लिए केवल इच्छा को ही योग्यता समझ लेना बड़ी भारी भूल है। यदि हमारी इच्छा बलवती होकर कार्य्य रूप में परिणित हो जाय, हम उसमें सफलता प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लें, अपनी सारी शक्तियों से और अध्यवसायपूर्वक उस काम में लग जायँ और उसे बिना

पूरा किये न छोड़ने का दृढ़ संकल्प कर लें, तभी हम सफलमनोरथ होने की आशा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिये उत्कट इच्छा, दृढ़ संकल्प, पूर्ण अध्यवसाय और वस्तविक योग्यता की आवश्यकता होती है।

अपने जीवन के उद्देश्य स्थिर करने के समय हमें इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि वे सत्यनिष्ठ मनुष्य के अयोग्य अथवा अनुपयुक्त न हों। यदि हम अपनी आकांक्षाओं और उद्देश्यों को पूरा करने के लिये अनुचित और उचित सभी उपायों का अवलंबन करने लग जायँ, तो मानो हम आत्मप्रतिष्ठा, सत्यता आदि गुणों को तिलांजली दे देते हैं और ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का बड़ा बुरा उपयोग करते हैं। अपने आपको बड़ा भारी व्यापारी और कमाऊ समझनेवाले एक भले आदमी ने एक बार एक मित्र से अपने व्यापार के सिद्धांतों का वर्णन करते हुए कहा था—"मैं किसी राह-चलते भले आदमी को देखकर उसके पाँचो कपड़ों पर हाथ डालता हूँ और उनमें से दुपट्टा, टोपी, रूमाल आदि जो कुछ मिल सके, ले लेने की चेष्टा करता हूँ। यदि वह होशियार हो और बचकर भागना चाहे तो मैं उसके अंगे का बंद लेकर ही संतुष्ट हो जाता हूँ। यदि कुछ भी न मिले तो भी मैं कभी दुःखी नहीं होता, क्योंकि ऐसे व्यापार में हानि की कमी कोई संभावना ही नहीं होती।" कैसे श्रेष्ठ और प्रशंसनीय विचार हैं! ऐसे लोग यदि कभी अपनी धूर्तता से हजार दो हजार रुपए जमा

भी कर लें तो भी वास्तविक सफलता कभी उनके पास नहीं फटकती। उलटे दिन पर दिन लोग उनकी धूर्तता से अवगत होते जाते हैं और शीघ्र ही उन्हें अपने कुकर्मों के लिये भारी प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करना पड़ता है। यदि वे बहुत अधिक धूर्त हुए और उनके लिए प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप की नौबत न आई, तो भी उनकी आत्मा को कभी शांति नहीं मिलती; दुष्कर्म उनके हृदय को सदा कचोटते रहते हैं। उनके दुष्कर्मों का संसार के अन्य लोगों पर जो विपाक्त प्रभाव पड़ता है और उनसे देश, समाज और व्यापार आदि को जो धक्का पहुँचता है, वह अलग।

मनुष्य में उच्चाकांक्षा होना बहुत ही स्वाभाविक है और इसके लिए कोई उसकी निन्दा नहीं कर सकता; बल्कि वास्तव मे निन्दनीय वही है जिसमे उच्चाकांक्षा न हो। पर वह उच्चाकांक्षा सत्य और न्याय के गले पर छुरी फेरनेवाली न होनी चाहिए। सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उन्नति और वृद्धि की इच्छा रखना बुरा नहीं है; पर शुद्ध और संस्कृत आत्मा ऐसी उन्नति को कभी अपना लक्ष्य नहीं बनाती। हमें उचित है कि हम न्यायपूर्वक इस बात का विचार कर लें कि जीवन, परिश्रम, अध्ययन और कार्य आदि का वास्तविक परिणाम क्या होना चाहिए। कोरी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा बहुत ही बुरी और निन्दनीय है। जो मनुष्य ज्ञान, परिश्रम और जीवन के उपयोग आदि का ध्यान नहीं रखता, उसे मनुष्य न समझना

चाहिए। सच्चा परिश्रम और प्रयत्न ही हमें वास्तव में मनुष्य बना सकता है, परिणाम या फल का उतना महत्व नहीं है। जो मनुष्य केवल परिणाम के लिये लालायित रहता है, वह कभी पूरा पूरा प्रयत्न नहीं कर सकता। उसके विचारों मे उच्चता और शुद्धि नहीं हो सकती; और इसी लिए मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयों से वह घबरा जाता है। इसी लिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म्म का उपदेश करते हुए कहा है—"केवल कर्म्म करना तुम्हारे अधिकार में है, उसके फलाफल पर तुम्हारा कोई वश नहीं। किए हुए कर्म्मों के फलों की आशा मन में कभी न रक्खो। साथ ही यह समझकर चुपचाप भी न बैठ जाओ कि संसार में अच्छे फलों का एक दम अभाव है। पूर्ण ईश्वरनिष्ठ होकर अपने कर्त्तव्य करते रहो। यदि कार्य्य सिद्ध हो जाय तो भी वाह वा, और न सिद्ध हो तो भी वाह वा। यश और अपयश को समान समझना ही ईश्वरनिष्ठा है। फल की इच्छा रखकर कोई काम करना बहुत ही बुरा है; और जो लोग ऐसा करते हैं, वे क्षुद्र हैं।" वास्तव में यश और अपयश की कुछ भी परवा न करके अपना कर्त्तव्य बराबर पालन करते जाना ही सब से अधिक बुद्धिमत्ता है।

कभी कभी बहुत छोटी और तुच्छ बातों से भी मनुष्य का सारा जीवन उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार एक छोटी सी चिनगारी से सारा शहर। थोड़ी सी जल्दबाजी, नासमझी या सुस्ती से बहुत कुछ अनर्थ हो सकता है। छोटे

से छोटे दोष या रोग को भी कभी उपेक्षा की दृष्टि से न देखना चाहिए और उन्हें यथासाध्य शीघ्र समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज हम जिस दोष को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, वही कुछ दिनों बाद हमारे लिये बड़ा घातक हो सकता है; और उस समय उससे पीछा छुड़ाना भी हमारी सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। आज यदि हम थोड़ा सा ऋण ले लें तो कल हमें और भी भारी रकम लेने का साहस हो जायगा और चार दिन बाद उसकी कृपा से हमारी सारी संपत्ति नष्ट हो सकती है। इस-लिए जहाँ तक हो सके, सब प्रकार के दुर्गुणों और दोषों से बहुत बचना चाहिए।

अपना व्यापार या पेशा निश्चित करने से पहले हमें अपनी वास्तविक रुचि और शक्ति का पता लगा लेना चाहिए। संभव है कि गृह-शिक्षा, मित्रों के आचरण, परिस्थिति अथवा अन्य ऊपरी बातों का हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़े और उसके कारण हम अपने उचित पथ से हटकर दूर जा पड़ें। कभी कभी इन कारणों से मनुष्य की वास्तविक रुचि बहुत कुछ दब जाती है। जिस प्रकार प्रातःकाल से ही दिन का पता लग जाता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था से ही मनु-ष्य के संबंध की बहुत सी मुख्य मुख्य बातें जानी जाती हैं। इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह परम आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही वह ऐसी परिस्थिति और साधनों से घिरा रहे जो उसकी मनोवृत्तियों को दृढ़, उच्च और सबल बनावें और उसमें

सरलता, सुजनता, सत्यनिष्ठा और सात्त्विक भावों का आरोपण करें। मन और वासनाओं को वश में रखने का अभ्यास बाल्यावस्था में ही पूर्ण रूप से हो सकता है, आगे चलकर नहीं। बाल्यावस्था में हृदय अपनी कोमलता के कारण सब प्रकार के सद्गुणों अथवा दुर्गुणों को ग्रहण करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। बाल्यावस्था के संस्कार ही युवावस्था में प्रबल रहते और हमारे भावी जीवन के विधाता होते हैं। वृत्तियाँ उसी समय हर तरह के साँचे में ढाली जा सकती हैं। ऐसे महापुरुष बहुत ही कम मिलेंगे जिनका बाल्य-काल का आचरण अपवित्र और दूषित रहा हो। बाल्यावस्था में प्रकृति अनुकरण-प्रिय होती है और आस-पास के लोगों को जो कुछ करते देखती है, उसे तुरंत ग्रहण कर लेती है।

प्रकृति पर प्रभाव डालने के संबंध में एक और बात ध्यान में रखने योग्य है। पुरुष मात्र पर जितना अधिक प्रभाव स्त्री-जाति का पड़ता है, उतना और किसी का नहीं पड़ता। इस प्रभाव की प्रधानता उस समय और भी बढ़ जाती है, जब माता और पुत्र का संबंध उपस्थित होता है। मनुष्य प्रायः वही बनता है जो उसकी माता उसे बनाना चाहती है। जो शिक्षाएँ हमें माता द्वारा मिलती हैं, वे चिता तक हमारा साथ देती हैं। एक विद्वान् ने बहुत ठीक कहा है—"एक माता सौ शिक्षकों के बराबर है।" राजमाता जीजाबाई ने ही शिवाजी को वास्तविक शिवाजी बनाया था। बिना माता देवल देवी

की शिक्षा के आल्हा और ऊदल को हम उस रूप में नहीं देख सकते थे जिसमें कि अब देखते हैं। ध्रुव ने अपनी माता के कारण ही इतना उच्च स्थान पाया था। परशुराम से उनकी माता रेणुका ने ही इक्कीस बार क्षत्रियों का विध्वंस कराया था। नेपोलियन, पिट, जार्ज वाशिंगटन आदि सभी बड़े बड़े लोगों ने अपनी अपनी माता की बदौलत ही इतनी कीर्ति पाई है। ऋषिकल्प दादा भाई नौरोजी भी सब से अधिक अपनी माता के ही ऋणी थे।

माता के उपरांत मनुष्य पर दूसरा प्रभाव उसके साथियों का पड़ता है। किसी मनुष्य की वास्तविक योग्यता या स्थिति का बहुत कुछ परिचय उसके साथियों की योग्यता और स्थिति से ही मिल जाता है। एक कहावत है—"तुख्म तासीर सोहबत असर"। उत्तम संगति से मनुष्य में सद्गुण आते हैं और बुरी संगति से दुर्गुण। प्रसिद्ध फारसी कवि शेख सादी ने एक स्थल पर कहा है—"मैंने मिट्टी के एक ढेले से पूछा कि तुम में इतनी सुगंध कहाँ से आई? उसने उत्तर दिया, यह सुगंध मेरी अपनी नहीं है; मैं केवल कुछ समय तक गुलाब की एक क्यारी में रही थी, उसी का यह प्रभाव है।" उसी कवि ने एक और स्थल पर कहा है—"अगर देवता भी दानवों के साथ रहे तो कपटी और दोषी हो जायगा।" तात्पर्य्य यह कि मनुष्य में स्वयं जिन बातों की कमी हो, उनकी पूर्त्ति मित्रों द्वारा हो जाती है। इसलिए यदि हममें उत्तम गुणों का अभाव हो और हम उस अभाव की

पूर्ति करना चाहें तो हमें उचित है कि ऐसे लोगों का साथ करें जिनमें वे गुण उपस्थित हों। अपने जीवन को परम पवित्र और आदर्श बनाने का सब से अच्छा उपाय यही है कि हम सदा ऐसे लोगों का साथ करें जो विद्या, बुद्धि, प्रतिष्ठा और विचार आदि में हम से कहीं अच्छे हों।

एक पुराने लेखक का कथन है—"जब तुम किसी से मित्रता करना चाहो तो पहले उसकी परीक्षा कर लो; क्योंकि बहुत से लोग बड़े स्वार्थी हुआ करते हैं और आपत्ति के समय कभी काम नहीं आते। × × × × एक सच्चा मित्र बहुत अच्छा सहायक और रक्षक होता है। जिसे सच्चा मित्र मिल जाय, उसे समझना चाहिए कि मुझे कुबेर की निधि मिल गई।" यद्यपि फारसी के प्रसिद्ध कवि सादी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि इस संसार में सच्चा मित्र नहीं मिल सकता, और संभव है कि किसी विशेष आदर्श को देखते हुए उक्त कथन किसी अंश तक सत्य भी हो, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संसार में बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने अपने मित्रों को घोर विपत्ति के समय पूरा सहारा दिया है, और यथासाध्य सब प्रकार से उनकी सहायता करके उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्त किया है। तो भी ऊपर जो चेतावनी दी गई है, वह सदा ध्यान में रखने लायक है; क्योंकि तुम्हारे जीवन की उपयोगिता बहुत से अंशों में तुम्हारे मित्रों की योग्यता और विचारों पर ही निर्भर करती

है। उत्तम गुणोंवाले लोगों से मित्रता करो; तुम्हारा जीवन भी उत्तम हो जायगा। ऐसे आदमियों को अपना आदर्श और पथ-प्रदर्शक बनाओ जिनका अनुकरण करने में तुम्हारी प्रतिष्ठा हो। जैसे उत्तम या निकृष्ट खाद्य पदार्थों का शरीर पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है, वैसे मन पर अच्छी या बुरी सोहबत का भी असर होता है। सुयोग्य मनुष्य की संगति के कारण लोगों का महत्व भी बढ़ जाता है और अनेक अवसरों पर उनके उत्तम गुणों के विकास को बहुत अच्छी संधि मिलती है। यदि रामचन्द्र न होते तो सुग्रीव या विभीषण का इतना महत्त्व कहाँ से बढ़ता? बिना कृष्ण के सुदामा को कौन पूछता? बिना चाणक्य के चन्द्रगुप्त और बिना चन्द्रगुप्त के चाणक्य की कीर्ति का इतना विस्तार कब संभव था?

भगवान् श्रीकृष्ण और बुद्ध, वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप और शिवाजी, भक्त-कुल-तिलक तुलसी और सूर की जीवन-घटनाओं का विचारपूर्वक अध्ययन करने से हमें जान पड़ेगा कि वास्तव में हमारा जीवन अपेक्षाकृत कितना हीन और तुच्छ है और उसे उन्नत तथा सार्थक करने की हमें कहाँ तक आवश्यकता है। क्या इससे यह शिक्षा नहीं मिलती कि यदि हम अपने जीवन के उद्देश्यों को उच्च बनाना चाहें तो हमें ऐसे श्रेष्ठ लोगों का साथ करना चाहिए जो सदा हमारी उन्नति में सहायक होते रहें और जिनके साथ से हमारी प्रतिष्ठा रहे? एक आदर्श महान् पुरुष

हमारे लिये संसार-सागर में दीपालय के समान है जो हमें विपत्ति-जनक स्थान की सूचना ही नहीं देता, बल्कि हमें सुरक्षित मार्ग दिखलाता है; जो हमें केवल चट्टानें ही नहीं दिखलाता, बल्कि बन्दर तक पहुँचा भी देता है। उत्तम विचारों से हृदय प्रकाशित होता है; और उत्तम कार्यों से उसे उन्नत होने में उत्तेजना तथा सहायता मिलती है। इसलिए सदा ऐसे लोगों का साथ करना चाहिए जो हमें ऊपर की ओर उठा सकें; और जिनमें हमें केवल नीचे ढकेलने की शक्ति हो, उनसे सदा दूर रहना चाहिए। एक विद्वान् का कथन है—"संसार में भलाई से ही बहुत सा उपकार हो जाता है। भलाई और बुराई केवल अपने तक ही नहीं रहतीं, बल्कि जिनका उनके साथ संसर्ग होता है, उन्हें भी वह भला या बुरा बना देती हैं। इसकी उपमा तालाब में फेंके हुए पत्थर से दी जा सकती है जो एक के बाद एक, इतनी लहरें उत्पन्न करता और उन्हें बढ़ाता जाता है कि अन्त में वे किनारों तक पहुँच जातीं हैं।" बुरे मनुष्य का साथ आपको कभी दूसरों का उपकार करने के योग्य नहीं रख सकता। आचरण का सूत्र तो पलीते के समान है। जहाँ तक उसका संसर्ग रहेगा, वहाँ तक उसका प्रभाव बराबर चला जायगा।

अपने जीवन का उद्देश्य स्थिर करने में हमें अनेक प्रकार के कारणों से सहायता मिलती है। कभी कभी तो एक साधारण घटना ही हमारे लिए विस्तृत भाग्य का द्वार खोल देती है।

ऐसी घटना हमारी प्राकृतिक प्रवृत्ति को किसी ऐसे काम मे लग
देती है जो हमारे लिए बहुत उपयुक्त होता है। सप्तर्षियों के उपदे
से वाल्मीकि कुछ ही क्षणों में डाकू से साधु हो गये थे। इब्राही
अहमद बादशाह अपनी लौंडी के इसी कहने पर—"मैं थोड़ा दे
इस मसनद पर सोई तो मेरी यह दशा हुई, जो इस पर नि
सोता है, उसकी क्या दशा होगी?" अपना सारा राज्य छोड़ क
फकीर हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास को उनकी स्त्री के ए
ही मर्म्मभेदी वाक्य ने इतना बड़ा महात्मा और कवि बना दि
था। भाग्य-चक्र को पलटने के लिए थोड़ा सा सहारा ही यथे
होता है। पर हम में से अधिकांश न तो ऐसे सहारे की प्रतीक्षा
कर सकते हैं और न उसकी प्रतीक्षा की कोई विशेष आवश्यक
ही है। जिस काम मे हम लगे हैं, वह यदि निन्द्य न हो य
हमारी प्रवृत्ति उसकी ओर हो, तो हमे अपनी सारी शक्तियों
उसी में लगे रहना चाहिए। हमें कभी पश्चात्ताप करने
अवसर न मिलेगा। जो कार्य्य हमारे सामने उपस्थित है,
पूरा करने में सारी शक्तियाँ लगा देना ही हमारा परम कर्त्तव्य
ध्यान केवल इस बात का रखना चाहिए कि हमारा वह का
पवित्र और प्रशंसनीय हो और हम उसमें बराबर ईमानदारी
लगे रहें।

अपने लिए कोई ऐसा काम ढूँढ निकालना जिसमें

कई प्रकार से अपना परिचय दे देती है। बहुत से लोगों की प्राकृतिक प्रवृत्ति का परिचय तो उनकी बाल्यावस्था में ही मिल जाता है। जो लोग अधिक प्रतिभा-शाली होते हैं, उनकी प्रवृत्ति किसी प्रकार दबाये दब ही नहीं सकती। उसी से संबंध रखनेवाले विचार उनके हृदय में आते हैं और उसी के स्वप्न भी वे देखते हैं। जो मनुष्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिन-रात चिन्ता और प्रयत्न करता रहता है, उसके लिये निराश होने का कोई विशेष कारण नहीं है। हाँ, पहले उद्देश्य निश्चित करने में किसी प्रकार का उतावलापन न करना चाहिए। जब एक बार उद्देश्य स्थिर हो जाय, तब शीघ्र ही यह न समझने लग जाना चाहिए कि यह अयुक्त अथवा कष्ट-साध्य है। कुछ लोग जल्दी जल्दी अपना काम बदला करते हैं। फल यह होता है कि वे एक में भी कृतकार्य नहीं होते। अपने पेशे या काम से कभी घृणा न करनी चाहिए। कुछ लोग शारीरिक श्रम अथवा किसी प्रकार की छोटी मोटी दूकान करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। यह बड़ी उपहासास्पद भूल है। तुम अपने काम को अपना कर्त्तव्य समझ कर करो; और कर्त्तव्य-पालन से बढ़कर प्रशंसनीय और कोई बात हो ही नहीं सकती। याद रक्खो, परिश्रम कभी मनुष्य का महत्त्व नहीं घटा सकता; केवल मूर्ख ही परिश्रम का महत्त्व घटा देते हैं।

रामचन्द्र वर्म्मा।

साहित्य-रत्न-माला

यों तो आजकल हिन्दी में बीसियों पुस्तकमालाएँ निकल रही हैं, पर ऐसी पुस्तकमालाएँ बहुत ही कम हैं जिनकी सभी पुस्तकें विषय, उनकी प्रतिपादन शैली और भाषा आदि के विचार से उच्च कोटि के साहित्य में स्थान पा सकें। इसी अभाव की पूर्ति के लिये यह पुस्तकमाला प्रकाशित की जा रही है। इस की सभी पुस्तकें सभी दृष्टियों से उच्च कोटि की और स्थायी साहित्य में परिगणित होने के योग्य होंगी। इसमें केवल लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के लिखे हुए साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि उपयोगी विषयों के अच्छे अच्छे ग्रन्थ ही प्रकाशित होंगे। साधारण अनुवाद या भरती की पुस्तकें नहीं रहेंगी। जो लोग १) प्रवेश शुल्क देकर स्थायी ग्राहकों में नाम लिखावेंगे, उनसे पुस्तकों का डाकव्यय न लिया जायगा।

माला की पहली पुस्तक

साहित्यालोचन

(लेखक राय बहादुर बा० श्यामसुन्दर दास जी बी० ए०)

यह साहित्य की आलोचना से सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ है। आजकल दिनों दिन हिन्दी साहित्य के प्रेमियों की भी संख्या बढ रही है और उसके सेवियों की भी। यह ग्रन्थ दोनों ही प्रकार के सज्जनों के लिए बहुत काम का है। जिनको साहित्य से कुछ भी अनुराग है, अथवा जो साहित्य से किसी प्रकार का संबंध रखते हैं, उनके लिए इस ग्रन्थ में जानने, समझने और मनन करने योग्य अनेकानेक बातें भरी पड़ी हैं। जो लोग साहित्य की प्रगति में किसी प्रकार की सहायता देते हैं, उनको यह ग्रन्थ कार्य्य करने का एक नया मार्ग दिखलाता है; और जो

लोग साहित्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें अध्ययन करने का एक नया प्रकार बतलाता है। इस ग्रन्थ ने हिन्दी संसार में एक नवीन प्रकार की जाग्रति उत्पन्न की है; और हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नवीन के प्रवर्त्तन में सहायक हुआ है। दूसरा संस्करण। मूल्य २)

दूसरी पुस्तक

भाषा-विज्ञान

(लेखक—राय बहादुर बा० श्यामसुन्दरदास जी बी० ए०)

मनुष्य किस प्रकार भाषण करता है, उसके भाषण का किस प्रकार विकास होता है, उसके भाषण और उसकी भाषा में कब किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप ही और का और हो जाता है, आदि अनेकानेक प्रश्नों का बहुत ही सरल, स्पष्ट और मनोरंजक निराकरण इस भाषा विज्ञान नामक पुस्तक में किया गया है।

इनमें जिन विषयों का विवेचन किया गया है, उनमें से कुछ के नाम ये हैं – भाषा विज्ञान का महत्व, उसका भिन्न भिन्न विज्ञानों से संबंध, भाषा के रूपात्मक और भावात्मक अंग, भाषा की उत्पत्ति, भाषा-विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ और समुदाय, आर्य्य, सेमेटिक और धातविक भाषाएँ, आर्य्यों का आदिम निवास स्थान उनकी शाखाएँ और भाषाएँ, संस्कृत पाली प्राकृत, अपभ्रंश, समस्त देश भाषाएँ, पुरानी हिंदी, पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी आदि सब की उत्पत्ति और विकास, भाषा पर ऐतिहासिक और भौगोलिक प्रभाव, अर्थ-संकोच, अर्थविस्तार, संज्ञा, विशेषण, अव्यय, क्रिया और सर्वनाम आदि

की उत्पत्ति, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की आरम्भ से लेकर अब तक की अवस्थाएँ आदि। यह ग्रन्थ आदि से अंत तक असंख्य ज्ञातव्य विषयों से भरा पड़ा है। शीघ्र मँगाइए; नहीं तो दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। मूल्य ३)

तीसरी पुस्तक

बौद्ध-कालीन भारत

(लेखक—श्रीयुक्त पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०)

जिन लोगों ने इस माला की पहली पुस्तक "साहित्यालोचन" और दूसरी पुस्तक "भाषा विज्ञान" को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनसे इसके संबंध में हम केवल यही निवेदन करना चाहते हैं कि उक्त दोनों पुस्तकों की भाँति यह तीसरी पुस्तक भी बहुत ही उच्च कोटि की हुई है और इसने भी स्थायी साहित्य में स्थान पाया है। अँग्रेजी तथा हिन्दी आदि के सैंकड़ों उत्तमोत्तम ग्रंथों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन और मनन करके यह पुस्तक बहुत ही परिश्रमपूर्वक लिखी गई है। हिंदी के सभी बड़े बड़े विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बहुत अधिक प्रशंसा की है और इसे बहुत उच्च कोटि का ग्रंथ कहा है। यह पुस्तक ऐतिहासिक होने पर भी उपन्यास का सा आनन्द देती है। साहित्य-प्रेमियों को और विशेषतः इतिहास-प्रेमियों को इसकी एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। इस पुस्तक में आपके जानने योग्य सैंकड़ों हजारों उपयोगी बातें भरी पड़ी हैं, जिन्हें पढ़ते ही आप मुग्ध हो जायँगे। हिन्दी में यह अपने ढंग की अनुपम और अपूर्व पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या प्रायः चार सौ से ऊपर है। बढ़िया एण्टीक कागज की जिल्द बँधी प्रति का मूल्य ३) और अच्छे चिकने कागज पर छपी सादी पुस्तक का मूल्य २) है।